श्री श्री विशुद्धानन्द जीवन चरित

लेखक महामहोपाध्याय

पं० गोपीनाथ कविराज

अनुवादक—

स्वर्गीय जीवन शंकर याज्ञिक

श्री कृष्ण सिंह चोहान

[श्र]ी श्री विशुद्धानन्द जीवन चरित

—प्रथम भाग—

श्री गोपीनाथ कविराज एम. ए.

— प्रणीत —

प्रकाशक :—

श्री विशुद्धानन्द कानन आश्रम

सी २१ / २ मलदहिया, वाराणसी—१

 [मूल्य पांच रुपया

प्राप्ति-स्थान :—

विशुद्धानन्द कानन आश्रम
मलदहिया, वाराणसी—१

हिन्दी प्रथम मुद्रण—

जगद्धात्री पूजा १९७५

मुद्रक :— अलका प्रेस, विनयका, वाराणसी ।
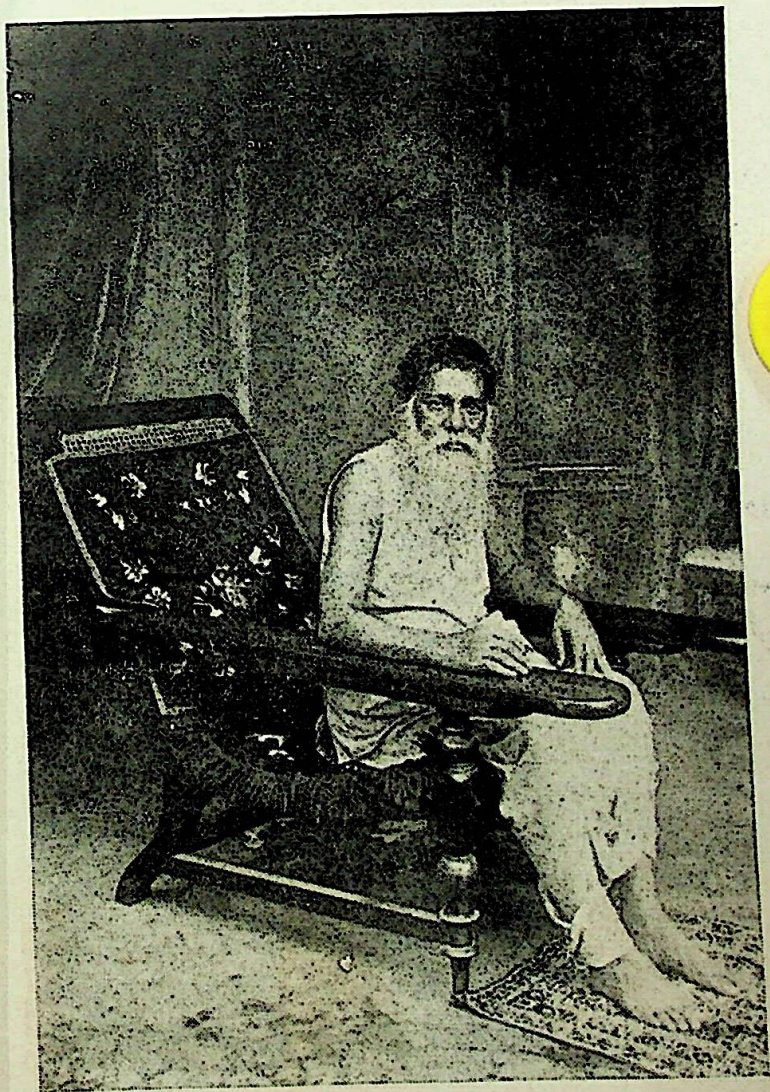
श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंस देव

अर्पण-पत्र
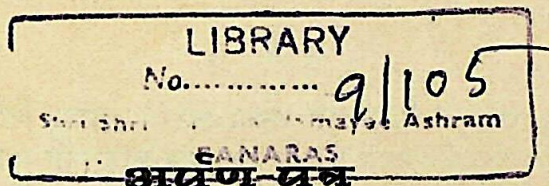
परमाराध्य पूज्यपाद

श्री श्री १०८ युक्तेश्वर

विशुद्धानन्द परमहंस देव

गुरुदेव के श्रीचरणकमलों में

हृदय की गभीर भक्ति और कृतज्ञता-निदर्शन-रूप

यह पावन ग्रन्थ

गंगाजल से गंगा-पूजन की नाईं

सादर समर्पित है।

"त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।"

श्री चरणाश्रित—

दीन-ग्रन्थकार

निवेदन

श्री भगवान की कृपा से परमाराध्यपाद पूजनीय श्री श्री गुरुदेव के पुण्य प्रसंग का प्रथम भाग चरित कथा प्रकाशित हुआ है। यह कुछ ठीक-ठीक जीवन चरित्र नहीं है, यह तो उसका आभास मात्र है। अनेक कारणों से महापुरुषों के जीवन चरित्र लिखे ही नहीं जा सकते। इसीलिए ग्रन्थकार ने भी ऐसी चेष्टा नहीं की है।

गुरु-भ्राताओं तथा गुरुदेव के भक्तों के प्रवल आग्रह के कारण इस पुण्य-प्रसंग की रचना हुई है। इस पुस्तक का नाम 'चरित कथा' रखा है, क्योंकि यह तो वहत प्रसंग-माला की एक संक्षिप्त अवतरणिका मात्र है। अगले भागों में योग तत्व, सूर्यविज्ञान तत्व, शिष्यों के जीवन में सद्गुरु का आत्म-प्रकाश, उनके सदुपदेश और शिक्षा-प्रणाली आदि भिन्न-भिन्न प्रासंगिक विषयों की विवेचना की जायगी।

यह पुस्तक साधारण पाठकों के लिए नहीं लिखी गई। जो श्री श्री गुरुदेव के श्री चरणाश्रित सेवक अथवा भक्त हैं उन्हीं के आत्मविनोद के उद्देश्य से लिखी गयी है। वे इसके पढ़ने से किंचित आनन्द लाभ करें इसी में ग्रंथ निर्माण की सार्थकता है। आशा है कि ग्रन्थकार और ग्रन्थ के समस्त दोषों की उपेक्षा कर भक्त पाठकगण आलोच्य चरित्र के पवित्र आदर्श को अपने-अपने लक्ष्य में रखेंगे।

यदि साधारण पाठकों में से कोई सहृदय तथा समभावापन्न

महाशय अपने गुणों के कारण इसका पाठ करने में प्रवृत्त होंगे और उन्हें लेशमात्र भी संतोष होगा तो उसका कारण उनकी चित्त-वृत्ति की महत्ता और आलोच्य चरित्र का स्वाभाविक गौरव ही समझना चाहिए। यही निवेदन है।

"विशुद्ध कानन"
मलदहिया, काशी-धाम

निवेदक—
श्री दुर्गाकान्त राय
भूतपूर्व सब-जज।

भूमिका

आजकल पाश्चात्य देशों में जीवन-चरित रचना का प्रबल उत्साह देखने में आता है। धनी, ज्ञानी, गुणी, कलाविद, कर्मवीर-जिन्होंने अपने जीवन में कुछ न कुछ विशेषता दिखायी है उन सब के जीवन वृतान्त की विवेचना होती है एवं इस प्रकार जीवन चरित का लिखना जातीय उत्कर्ष के लिए आवश्यक माना जाता है। हमारे देश में भी वर्तमान युग में न्यूनाधिक परिमाण में यह प्रथा चल पड़ी है। और यह भी नहीं कह सकते कि प्राचीन काल में भी यह प्रथा बिलकुल थी ही नहीं।

किन्तु महापुरुषों का जीवन साधारण मनुष्यों के सदृश नहीं होता। उनका जीवन आदर्श रूप होते हुए भी जगत के लिए सर्व प्रकार से अनुकरणयोग्य नहीं होता। हाँ, उनके उपदेश अवश्य पालनीय होते हैं किन्तु यदि उनका स्वयं हम अन्धानुकरण करें तो उनकी सी अवस्था कभी लाभ नहीं कर सकते। जिन उपायों से वे महिमा प्राप्त करते हैं, उनको जानकर लोगों का उपकार हो सकता है, यह सत्य है, परन्तु उनके गुह्य विषयों का वर्णन कर प्रकाशित करना योग्य नहीं। सद्गुरु की शक्ति प्राप्त कर उनके आदेशानुसार कार्य करते रहने से दीर्घकाल के अध्यवसाय, निष्ठा तथा श्रद्धा के फलस्वरूप जीवन का उपादान परिवर्तित होकर अवश्य शुद्धि होती है। अस्वाभाविक अनुकरण द्वारा तो कोई फल-सिद्धि नहीं हो सकती।

ऐसे महापुरुषों के जीवन-चरित कहानी किस्सों की तरह लिखकर प्रकाशित करने के विषय नहीं होते। जिन्होंने ऐसी चेष्टा

की है, उन्होंने अपनी धृष्टतामात्र प्रकाश की है। रेनान् (Renan) ने ईसा की और बंकिमचन्द्र ने श्रीकृष्ण की जीवनी लिखने की चेष्टा की थी। परन्तु कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों ही असफल रहे। जिसको यथार्थ में जीवनी कहा जाय ऐसी किसी भी महापुरुष की नही लिखी गयी। जो लिखते हैं, वे यदि स्वयं उच्च अवस्थापन्न पुरुष नहीं हैं तो आलोच्य जीवन को आप ही ठीक–ठीक नहीं समझ सकेंगे और उस जीवन में जो प्रतिक्षण विचित्र रहस्यों का उदय होता है उसको कदापि देख नहीं पायेंगे, तब फिर उसको दूसरों के लिए वोधगम्य वनाने की तो वात ही अलग रही। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि दिव्य चरित्र में लेखक को अपने भावानुरूप क्षुद्रता तथा मानवीयता आरोपित हो जाती है और अपनी भ्रान्तिपूर्ण विवेचना शक्ति के मापदण्ड से वह आलोच्य महाजीवन पर अप्रामाणिक विचार करने जाता है। प्रकारान्तर से वास्तविक सत्य की अवमानना कर बैठता है। महम्मद का जीवन चरित्र पढ़कर मुहम्मद का ठीक-ठीक परिचय नहीं मिलता। बुद्ध, शंकर, चैतन्य इन सबके संबंध में भी यही वात है। बुद्धचरित या ललितविस्तार, शंकरविजय या शंकर विलास, चैतन्य चरितामृत या चैतन्य मंगल आदि कोई भी यथार्थ जीवन चरित नहीं हैं।

जीवन चरित लिखना बड़ा कठिन कार्य है। एक प्रकार से उसे असम्भव भी कहें तो अत्युक्ति न होगी। यह एक संदेह की वात है कि एक मनुष्य की जीवनी दूसरा आदमी ठीक-ठीक समझ भी सकें और उसको ठीक-ठीक वैसे ही लिख भी सके। अपना जीवन पूरा अपनी ही समझ में नहीं आता तो दूसरे लोग भला उसे कितना क्या समझ सकेंगे। जो जितना ही ज्ञानी है, उतना ही उसको अपना जीवन अपने आप को रहस्यमय ही मालूम होता है। जो विराट शक्ति जगत के भीतर और वाहर अणु से लेकर महत् तक में खेल कर रही है, उसके खेल को हम अपने अहंकार और मोह के आवरण

से देख नहीं पाते, वही शक्ति प्रत्येक के जीवन में खेल रही है इसमें कोई सन्देह नहीं है।

चाहे वह हमारी समझ में न आवे परन्तु हम उसको अस्वीकार नहीं कर सकते। जैसे-जैसे अहंकार निवृत्ति होती जाती है, उस विराट शक्ति की क्रीड़ा का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है और जीवन की क्षुद्र घटनाओं में भी उसकी महिमा का आभास दिखायी देने लगता है और महाशक्ति का खेल देखकर मनुष्य अपने को धन्य मानता है।

कवि ने कहा है:—

"तुमि जानो क्षुद्रि जाहा—क्षुद्र ताहा नय।
सत्य जेथा किछु आछे—विश्व शेथा रय।।"

× × × ×

"To me the meanest flower that blows can give
Thoughts that do often lie too deep for tears."

तव उसकी दृष्टि में प्रत्येक जीवन दुर्भेद्य रहस्यपूर्ण मालूम होने लगता है और उस कारण का अनुसन्धान करने की चेष्टा एक अनन्त शक्ति की स्वाभाविक स्फूर्ति में विलीन हो जाती है। जीवन का चरम तत्व जहाँ रहस्यमय हो जाता है तो जीवन चरित रचना का व्यर्थ प्रयास उपहासास्पद हो जाता है और यदि सर्वव्यापी महाशक्ति का खेल नहीं देख सकते तो उस जीवन की प्रत्येक घटना तथा भाव का मूल केवल अपने अहंकार समझ बैठते हैं। किन्तु यह एकवारगी भूल है, यह वात जानने में किसी को भी देर न लगेगी। हमारी प्रत्येक परिच्छिन्न शक्ति के भीतर से एक अदृश्य महाशक्ति प्रति मुहूर्त में काम कर रही है। कभी तो उस महाशक्ति से पुष्ट होकर हमारी क्षुद्र शक्ति कोई वड़ा कार्य सम्पादन कर लेती है और कभी-कभी

महाशक्ति के विरोध से क्षुद्र शक्ति अपना छोटा कार्य भी नहीं कर सकती। उस महाशक्ति का स्वरूप समझना भले ही कठिन हो तथापि चिरकाल से विचारशील मनुष्यों ने उसका बराबर अनुभव किया है।

जब साधारण मनुष्यों की प्रकृत जीवनी लिखना इतना कठिन है, तो महापुरुषों के संबंध में तो उसको असम्भव ही कहना चाहिए। जब तक अहंकार के कारण आँखें नहीं खुलतीं तभी तक जीवन-चरित रचना की चेष्टा हो सकती है और होती भी जाती है। किन्तु आगे फिर वह हो नहीं सकती। इसी कारण से किसी महापुरुष का जीवन चरित नहीं मिलता। जो हैं वे बिल्कुल निर्जीव हैं और उनमें केवल कुछ स्थूल घटनाओं का सन्निवेश है। उनको वृत्तान्त भले ही कहें किन्तु जीवनी नहीं कह सकते।

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति॥

भवभूति का यह वर्णन अक्षरशः सत्य है। लोकोत्तर पुरुषों का चित्त वज्र से भी कठोर और कुसुम से भी कोमल होता है। उसमें एक ही समय विरुद्ध गुणों का समावेश देखने में आता है। जितने विरोध हैं, उन सबके एकमात्र आधार भगवान हैं। उनके भक्त भी ऐसे ही हैं। उनके चरित्र का वर्णन करने का कौन साहस करे?

जिन महापुरुष की पुण्य स्मृति की विवेचना करने को हम आज उद्यत हुए हैं, वे एक आदर्शचरित्र युक्तयोगी हैं। उनके जैसा शुद्ध और पवित्र जीवन, कर्म, ज्ञान, भक्ति की पराकाष्ठा, ऐश्वर्य और माधुर्य का अपूर्व सम्मिलन जगत में कहीं देखने में नहीं आता। उनके पुण्य जीवन की पावन पर्यालोचना कर हम धन्य होंगे इसी आशा से इस प्रसंग को उठाया है।

उनका जीवन–चरित्र लिखने की धृष्टता नहीं की जाती। जिनके लोकातीत जीवन के अंश मात्र को समझने से अपना जीवन सफल कर उनकी असंख्य विभूतियों के एक दो स्फुरण मात्र देखकर हम चकित हो गये हैं, जिनके स्थूल देह की महिमा हम अपने सूक्ष्म–तम विचार में भी नहीं ला सकते, ऐसे महापुरुष का जीवन-चरित लिखने के लिए हम प्रवत्त नहीं हो सकते।

अतएव यह पुस्तक उनका जीवनचरित्र नहीं है। केवल उनके जीवन की कतिपय बातें हैं और उनके उपदेश मात्र हैं। इसमें कोई निगूढ़ तात्पर्य नहीं है। इसको एक अविच्छिन्न सूत्र में ठीक–ठीक नहीं बाँधा गया और उसके आविष्कार की भी कोई चेष्टा नहीं की गयी है। आश्रित भक्तजनों के जीवन में आश्रयदाता की कृपा, अनेक समयों में नाना प्रकार से आत्मप्रकाश कर चकी है, उनमें से केवल दो चार का उल्लेख हृदय की कृतज्ञता के उच्छ्वास रूप से कर दिया गया है। भक्त के जीवन में भगवान की लीला कितने-कितने प्रकारों मे होती रहती है इसका सचमच कौन वर्णन कर सकता है ? और वह कितनी बार हुई तथा किस हद तक इसका हिसाव लगाने का किसको गम है ? भगवान हैं निरपेक्ष और अकारण करुणामय। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि भक्त के आकुल हृदय से उनकी करुणा की विस्मृति हो जाय। इस पुस्तक में भी इसी प्रकार स्मृति चर्चा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिनकी यह स्मृति है उनका परिचय कराने के लिए एक संक्षिप्त चरितकथा का वर्णन आवश्यक है। इसीलिए पहले [प्रथम भाग में] वही दिया गया है। इसके अगले [द्वितीय, तृतीय इ०] भागों में लीला-प्रसंग और उपदेशावलियाँ दी जायेंगी। इससे अधिक कहने का इस जगह अधिकार नहीं है।

हमारे महद् भाग्य से उक्त अनुपम महापुरुष हम लोगों के वोच में साथ-साथ वर्तमान हैं, जिन्होंने जीवन में अतिकठोर साधना और अलौकिक दैवानुग्रह द्वारा अन्तर्जगत तथा वहिर्जगत के सम्पूर्ण तत्वों को प्रत्यक्ष प्राप्त करके दिखा दिया, जो तत्वातीत परमपद पर स्थित हैं, जो योग और विज्ञान के उच्च शिखर पर आरूढ़ होकर अपने अचिन्त्य विभूति वल से शास्त्र के समस्त रहस्यों को योग्य अधिकारी के सामने प्रत्यक्ष खोलकर दिखाने एवं समझाने में समर्थ पाये गये, जो आदर्श योगी, आदर्श ज्ञानी, आदर्श भक्त एवं मन्त्रार्थ के ज्ञाता, सत्य संकल्प महात्मा रूप में प्रकाशित हैं, जो परम तत्व के प्रदर्शक हैं, जो भगवान के अनुग्रह शक्ति की साक्षात् संचारिणी मूर्ति हैं, जो ज्ञान, इच्छा, क्रिया इस त्रिविध स्फुरणात्मक महात्रिकोण के केन्द्र बिन्दु की सामञ्जस्यमय अवस्था के अधिष्ठाता हैं, जिनके लिए देश और काल की सत्ता अलीक और कल्पित है, सौ वात की एक वात यह है कि वे प्रकृत सद्गुरु हैं श्री भगवान का स्वयं प्रकटरूप। उन्हीं की कृपा से हम उनको कुछ समझ सके हैं और उन्हीं के उद्देश्य से उन्हीं के वताये हुए जीवन के पथ पर हमलोग निरन्तर आगे वढ़ सकेंगे। जो प्राकृतिक विकारों से परिच्छिन्न व संसृष्ट नहीं हैं, जो अखण्ड चैतन्य से नित्य योगयुक्त होकर विश्व जगत के हृदय कमल में विश्वनाथ की नाईं अन्तरात्म रूप से विराजमान हैं, वे ही हमारे हृदयों में चिरजाग्रत प्रकाशमान हो, यही हमारी उनके श्रीचरणों में एकमात्र निरन्तर प्रार्थना है।

काल के प्रभाव से सद्धर्म का आदर्श मलिन हो गया है। मनुष्य आज अपने ऋषि योग्य दिव्य भाव से पतित होकर जीवन के वास्तविक लक्ष्य को भूल गया है।

अ-सार को सार समझकर उसी की खोज में अमूल्य शक्ति और समय का व्यय कर रहा है। शास्त्र और ऋषि वाक्य पर से

विश्वास उठ गया है। न वैसी सरलता है और न वैसी तपस्या ही। वह सत्य को नहीं पहचानता, इसलिए श्रद्धा और सत्यानुराग भी नहीं है। उसकी देह अशुद्ध है, मन अपवित्र है, हृदय संकीर्ण, दृष्टि क्षीण और बुद्धि जड़ है। आज का यह ऐसा मनुष्य धर्म के यथार्थ रूप को किस प्रकार देख सकता है? केवल इतना कहने से कि वह देख नहीं सकता, उसका संशय दूर नहीं होता और न विचार का मोह छूटता है। सत्य के उदार एवं माधुर्यमय रूप के आकर्षण का उसको अनुभव ही नहीं हो पाता। इसी कारण उसके विक्षिप्त चित्त की चंचलता किसी भी उपाय से दूर नहीं होती। वह अमृत के आस्वादन के लिए अमरधाम के अधीश्वर से लेकर क्षुद्रतम कीट पर्यन्त सतृष्ण भाव से चारो ओर मारा मारा घूमता-फिरता है।

जिसका क्षीण आभास मिलने पर भी मुग्ध जीव क्षणभर के लिए तो अपने को कृतकृत्य समझ लेता है, जिसको न पाने तक उसकी किसी प्रकार भी तृप्ति नहीं होती और न उसे शान्ति मिलती है, वासनाबद्ध बहिर्मुख जीव को उसी अमृतधारा का पान कराने के लिए युग-युग में कल्याणमयी जगन्माता की प्रेरणा से मर्त्य भूमि पर महापुरुष 'सद्गुरु' के रूप में अवतार लेते हैं।

> शे आनन्द रस-पाने, चिर प्रेम जागे प्राणे।
> देह ना संसार-ताप, संसार माझारे रये।।

'सद्गुरु' के अतिरिक्त चौदह भुवनों में और कोई नहीं है जो कि इस आनन्द की प्राप्ति का उपाय जानता हो।

आज वे हमलोगों को उस परमानन्द की प्राप्ति का पता बताएँ और कामादि विषयों के विरोधी आक्रमणों से वे ही हमारा उद्धार करें।

हम जानते हैं कि इस स्मृति चर्चा का भी अधिकार हमको प्राप्त नहीं है। जैसे विना शुचि और संयत हुए, देवालय में प्रवेश पाने और पूजा आदि करने का अधिकार नहीं होता, उसी प्रकार मलिन और चंचल अन्तःकरण से पुण्यश्लोक महापुरुषों का स्मरण भी निषिद्ध है। इस वात को जानते हुए और अपनी अयोग्यता का पूरा अनुभव रखते हुए भी इस पुस्तक के लिखने में जो हम प्रवृत्त हुए हैं, उसके भी कुछ कारण हैं।

पहला कारण तो यह है कि यदि इस प्रसंग के द्वारा स्वर्गीय पवित्रता, वैराग्य और विवेक का विन्दु मात्र भी आभास इस मलिन हृदय में हो तो उसी से हम धन्य होंगे। अग्नि जिस प्रकार अशुद्ध वस्तु की उपेक्षा व अनादर किये विना अपने संग से उसे आत्मवत् वनाकर पवित्र कर देती है, उसी प्रकार महापुरुष की पुण्य सत्संगति का, कलुषित चित्त पर अवश्य ही उत्तम प्रभाव पड़ता है। यह हमारा विश्वास है। श्री भगवान की करुणा पर दीन और पतित जनों का भी अपना दावा है। जव शिशु माता की गोद में आने के लिए व्याकुल भाव से हाथ वढ़ाता है एवं पवित्र अथवा अपवित्र होने का भाव उसके मन में नहीं आता तो माता भी बिना संकोच के उसको अपनी गोद में ले लेती है।

माँ के अंक की यही अपूर्व महिमा है कि उसके पवित्र स्पर्श से ही सारी मलिनता आप ही दूर हो जाती है। दूसरे, हम योग्यतर पुरुष को यह महत्कार्य करने के लिए आह्वान करते हैं। जो स्वभाव से सत्य और ज्ञान के पिपासु हैं, वे तो अवश्य ही इस क्षेत्र में अवतीर्ण होंगे। यदि उनको सचेत करने में हमारा यह कर्कश नाद कुछ भी साधक होगा, तव तो हमारा परिश्रम इतने से ही सार्थक होगा। अनेक कारणों से हम अयोग्य हैं सही, परन्तु किसी योग्यतर व्यक्ति को इस कार्य के लिए वुलाने का अधिकार तो हमें

है ही। केवल इतना ही कहना है कि एक बहुमूल्य रत्न पड़ा हुआ है, जो अन्वेषक और जौहरी हों, वे आवें और उसका मूल्य आँके शायद सौभाग्य से वे अतुल सम्पत्ति के अधिकारी बन जायँ! हम तो एक प्रान्त से ही घंटा बजाकर लोगों को बुला रहे हैं।

"विशुद्धानन्द-कानन,
श्री काशी-धाम
शिवरात्रि,

श्री गोपीनाथ कविराज

मंगलाचरणम् !

श्री श्री विशुद्धानन्द-स्तोत्रम्

(१) निलाम्भोरुह-पंक्ति-सोदर-वपु लंक्ष्मीः प्रसादोत्तर—
स्नेहाभ्यक्त विशाल लोचनरुचा कर्षन् सतां मानसम् ।।
आनाभि-प्रसरच्छरत्समुदयत्काशाभ-कूर्च्चोजज्वलो ।
देवः शंकर एव सद्गुरु-विशुद्धानन्द-नाथोऽवतु ।।

(२) यस्मिन्नभ्युदिते हृदन्तर-महाकाशे प्रकाशाऽधिके ।
तामिश्राणि च वासानात्मक-वपुःशालीनि यान्ति क्षयम् ।।
आनन्दं कमरन्दमन्तरधिकं विभ्रन्मनः पङ्कजम् ।
निद्रां मुँचति तं भजे गुरु-विशुद्धानन्द नाथं प्रभुम् ।।

(३) यस्मिन जाग्रति योगिबृन्द-परमाचाये प्रभावोत्तरे ।
सूर्यस्यैव तु रस्मिभिभ्त्रि जगदारम्भ-प्रतिष्टोद्यते ।।
प्राचीनैः करणैः पुरेव विद्यत् सृष्टि विधाता न किम् ।
लज्जामञ्जति, हन्त तं गुरु विशुद्धानन्द नाथं भजे ।।

(४) शिष्यां यस्य पदाम्बुजोद्भव सुधामापीय पीन-श्रियो ।
वागीशेन-समं सभासु विजय-स्पर्द्धां वहन्त्युच्चकैः ।।
लक्ष्मीः पद्मसरो विहाय सततं दासीव यं सेवते ।
तं वन्दे यमिनां वरं गुरु शिशुद्धानन्द-नाथं प्रभुम् ।।

(५) विश्वात्मा परमेश्वरः प्रिय–तमामाश्रित्य शक्तिं निजाम् ।
स्वेच्छा-मात्र-परिग्रहो वितनुते यद्विश्वमत्यद्भुतम् ।।
यस्तन्मर्म-रहस्य-वित्तमभिदापन्नो विपन्नाश्रय ।
स्तं भक्तौघ-सुर-द्रुमं गुरु विशुद्धानन्द–नाथं भजे ।।

(६) विज्ञानानि वहूनि सन्ति विविधा वैज्ञानिकेन्द्र अपि ।
प्रायस्ते वहिरेव बुद्धिमधमां ध्यापारयन्ते तमाम् ।।
सर्वाश्चर्य-करं त्रिकाल-सफलं तत्सौर-विज्ञानकम् ।
यस्मादाविरभूत स रक्षतु विशुद्धानन्द योगीश्वरः ।।

(७) वन्दे नन्दित भक्त-वृन्दमुदयद् वात्सल्य वारां निधिम् ।
वालार्क-प्रति-मल्ल दिव्य-महसां संघातमुच्चैस्तमम् ।।
अज्ञानात्मक-घोर-गर्त पतितोद्धाराध्वरे दीक्षितम् ।
विश्वेशं मनुजाकृतिं गुरुविशुद्धानन्द-नाथं परम् ।।

(८) वन्दे किञ्चिदचिन्त्य-शक्ति-भव-भीतात्मैक-शान्ति-प्रदम् ।
कारुण्यामृत-सिन्धु-सिन्धु-तनया-वाग्-देवता-राधितम् ।।
आकारेण नरं विनाशित दरं यत्कर्मणा शङ्करम् ।
विख्यातं भुवनेषु त गुरु विशुद्धानन्द नाथं महः ।।

(९) स्वामिन् ! सद्गुरु नाथितवतां सर्वस्व दानोत्सुकः
कोऽन्योऽस्मिन्नवनी तले सु विपुले जागर्ति सामर्थ्यवान् ।।
मन्ये वीक्ष्य वदान्यतामनुपमां श्रीमत्पदाब्जोदिताम् ।
कष्ठी-भूय पलायितः सुरतरुर्लीनो वने नन्दने ।।

(१०) दैवं मानुष पाशवादि सकल सर्गं विधातुं क्षमः ।
रवेचर्यादि समस्त सिद्धि निवहैराश्चर्यैरञ्जितः ।।

मूर्द्धान्तःस्थित शङ्करः सुरभिता संख्यात-रत्नाकरः ।
पायान्नः प्रतिभाकरो गुरु-विशुद्धानन्द-योगीश्वरः ॥

(११) आवाल्यादति मानुषैरवितथैः पुण्यावदानै निजै ।
-राश्चर्यं कुतुक भयं च जनता चेतः सुविस्तारयन् ॥
स्वाधीनः स्ववशो कृताखिल महाभूत प्रभूतः द्युति ।
योगीन्द्रो दयतां दयामय विशुद्धानन्दनाथो मयि ॥

(१२) सर्वांगाञ्चित रोम कूप विसरत्सौरभ्य संभावित—।
भ्राम्यद् भृंग कदम्बडम्बर भवत् सगीत सारस्ततः ॥
श्रीमातुःस्तगज धयन्नविरतं वृद्धोऽपि वालोपमः ।
क्रीड़ा कौतुकि सद्गुरु विजयते यस्तं वय मन्महे ॥

—❀—
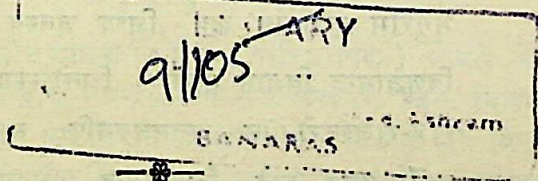
श्री श्री विशुद्धानन्दाष्टकम् ।

प्रातरुद्यत्सहस्रांशु कोटि कूट स्फुरत्त्विषे ।
विशुद्धानन्दनाथाय गुरवे सततं नमः ॥ १ ॥
सूर्य-विज्ञान संभार विहिताद्भुत कर्मणे ।
नमोऽस्तु गुरवे तस्मै विशुद्धानन्द वेधसे ॥ २ ॥
यत्कृपा तरिमासाद्य तीर्णोऽनेकैर्भवार्णवः ।
वन्दे परम हंसं तं विशुद्धानन्द-नाविकम् ॥ ३ ॥
भृगुराम कृपापात्रं छत्रं शिष्य जनस्य यत् ।
विशुद्धानन्द विज्ञान सत्रमेकं श्रितोऽस्म्यहम् ॥ ४ ॥
राज-राजेश्वरी-पीन स्तनंधयमपि स्फुटम् ।
वर्षीयांसमहं वन्दे विशुद्धानन्द सद्गुरुम् ॥ ५ ॥
सर्वांग सौरभोद्भ्रान्त भृंग-संगीत सस्तुतम् ।
विशुद्धानन्द कमलमलं वितनोतु माम् ॥ ६ ॥
विद्युद्दाम स्फुरद्धाम नयनाम्भोज मंजुलम् ।
वर्षन्तमिव कारुण्य विशुद्धानन्दमाश्रये ॥ ७ ॥
योग-प्रभाव सम्पन्न सिद्धि वृन्द समेधितम् ।
नराकार शिव वन्दे विशुद्धानन्द नामकम् ॥ ८ ॥

— ०+० —

दो शब्द

प्राय: बारह वर्ष पूर्व एकदिन पूज्य देव गोपीनाथ कविराज जी ने दीन लेखक से कहा था "गुरुदेव की जीवनी हिन्दी भाषा में उपलब्ध नहीं है। तुम कुछ इस ओर प्रयत्न करो। गुरुदेव के विषय में व्यापक प्रकाश का समय बहुत विकट में है।"

पूज्य कविराजजी के कथन के उत्तरांश पर हमने उसदिन कतिपय प्रश्न किये थे और उन्होंने कृपापूर्वक विस्तार से चर्चा की। उसी चर्चा का किंचित अंश, संक्षेप में यहां उल्लिखित है :—

(१)

बाबा, योगी और साधक में भेद (पारिभाषिक) मानते थे। हम लोग स्वइन्द्रिय द्वारा रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दमय जिस विशाल जगत को बाह्य जगत रूप निरन्तर अनुभव करते हैं, तथा जो विपुल आलोक, इसे हमारी दृष्टि के सम्मुख प्रकाशित करता है, वह वास्तव में हमारे ही चित्त का आलोक है। वहिमुख चिन्ता की गति के कारण हम अपने इस अन्तरालोक का सन्धान नहीं पाते। किन्तु दीर्घकाल के अभ्यास तथा कौशल विशेष से जब वृत्ति अन्तर्मुखी होकर चित्त में एकाग्रता लाती है तो उस समय स्वभावत: यह अन्तरालोक भासमान हो उठता है। यह प्रज्ञा का आलोक है। इसकी पूर्णता सम्प्रज्ञात का पर्याय है। प्रज्ञा के उदयोपरान्त प्रज्ञा का उपशम होता है। यही असम्प्रज्ञात समाधि है। इस असम्प्रज्ञात में एक विशुद्ध चैतन्य अवस्था का उदय होता है। उसे 'कैवल्य' कहते हैं। विभिन्न शास्त्रों तथा सम्प्रदायों में इसी 'आलोक' के मार्गावलम्बन की बात कही गयी है। यही साधकों का मार्ग है।

किन्तु जो गुरुदत्त चैतन्य-सँचार प्राप्त योगी हैं, कर्म-पथ में अग्रसर होने पर उसके लिए उपरोक्त 'आलोक' का मार्ग सदैव वर्जनीय है। साधक अल्प मात्रा में गुरुदत्त चैतन्य-संचार प्राप्त कर उपरोक्त 'आलोक' के सहयोग तथा स्वसाधन वल से उस 'आलोक' का अतिक्रमण करता है। वस्तुतः यह 'आलोक' भी मोहमाया का 'आलोक' है, आलोकमयी का आलोक मात्र। जो योगी है, उसे इस 'आलोक' का अतिक्रमण नहीं करना पड़ता। इस आलोक की पराभूमि से योगी की योग-साधना का आरम्भ होता है। इससे जाना जाता है कि योगी का मार्ग चैतन्य-राज्य के मध्य निहित है। अर्थात् योगी के मार्ग की पहली ही भूमि पूर्ववर्णित चित्तालोक के भी अतीत है। यदि अनन्त ब्रह्माण्ड चित्तालोक से उद्भासित होते हैं तो कहा जा सकता है कि जहां समस्त ब्रह्माण्डों की महासमष्टि की परिसमाप्ति होती है, उससे भी अतीत भूमि से योगी के मार्ग का आरम्भ होता है। यह सब गुरुदत्त चैतन्य की अल्पाधिक मात्रा पर निर्भर करता है।

किन्तु गुरु का शक्ति-संचार (अल्पाधिक) उनके पक्षपात का विषय नहीं है। वह शिष्य के आधार की अपेक्षा रखता है। निर्बल आधार अधिक शक्ति संचार को सहन नहीं, कर सकता। आधार-वैषम्य के मूल में जन्मकालीन 'क्षण' विषयक उपादान होते हैं। महापुरुष को इसीलिए 'क्षणजन्मा' कहा जाता है।
'नायमात्मा वलहीनेनलभ्यः'।

(२)

निज दुःखनिवृत्ति अथवा आनन्द प्राप्ति साधक का लक्ष्य होता है। किन्तु योगी की प्रकृति इससे भिन्न होती है। उसका लक्ष्य दूसरों को दुखः निवृत्ति तथा उनकी प्राप्ति होता है। दूसरों को अपना वनाकर तथा उनके सुख दुःख को अपने सुख दुःख रुपेण ग्रहण करना-यही योगी का स्वभाव है, उसकी प्रकृयि का वैशिष्ठ्य है। ऐसा भी सम्भव है कि कोई महायोगी पुरुष इस प्रयास में भी हो कि सम्पूर्ण जगत के यावतीय जीवों के सुख दुःख तथा उनके

कर्म को ग्रहण कर उन्हें अपना ले और उन्हें अपनी सत्ता के वीच आकर्षित कर स्थान दें। योग की चरम परिणति इसे ही कहा जा सकेगा। स्वयं गुरुदेव (विशुद्धानन्द परमहंसदेव) कहा करते थे "योगीर कर्मेर अन्त नय। कर्मोई आनन्द रे वापू!"

साधक, दीक्षा काल में गुरु से चैतन्य रूप वीज प्राप्त कर, कर्मशक्ति द्वारा उस वीज को गुरुकाया–स्वकाया किंवा इष्टरूप में परिणत करता है। इसके उपरान्त उसका (शिष्य का) पृथक अस्तित्व नहीं रहता और वह अपने इष्टरूप में पूर्णता लाभ करता है। यही चिदाकाश में स्थिति है।

किन्तु अन्तर्निहित आधार वल के अधिक होने के कारण योगी-शिष्य को गुरु, वीज न देकर उसकी विकसित अवस्था अर्थात् काया-दान करते हैं। इसके फलस्वरूप योगकर्म के अनुष्ठान के साथ-साथ उस काया का विकास होता है तथा पूर्ण विकास सम्पन्न होने पर चिदाकाश को भेद योगी, गुरु के स्वरूप में स्थान लाभ करता है। यह वोधयुक्त अवस्था है। यही शिव भाव भी है। इसके आगे और भी उच्चतर भूमियां हैं।

(३)

किन्तु यह सव होने पर भी अभी महाशक्ति का विकास नहीं हुआ। इसके लिये नाभिकेन्द्र का जागरण अपेक्षित है। यह अत्यन्त विरल है। संम्भवतः इसी कारण महान से महान योगी भी नाभि-क्रिया का अधिकार प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो पाते। यदि कोई पा सके तो परमशिव भाव में प्रतिष्ठित हो जाता है। यह विश्वातीत और विश्वात्मक–उभयात्मक है। मां की गोद में वैठकर मां का खेल देखना' भी यही है।

(४)

सेवा, योग-पथ का एक अनिवार्य अंग है। मां का जगत
प्रकट रुप 'कुमारी' है। कुमारी-सेवा से बढ़कर इसलिए मां की को
अन्य सेवा नहीं। गुरुदेव इसीलिए कुमारी मां की सेवा पर इतना ब
देते थे। इस सेवा की 'चरम परिणति, यावतीय विश्व को मां
चैतन्यस्वरूप से वेष्ठित करना है। यही योगी के कर्म की, किंव
योग की, चरम परिणति भी है।

चर्चा के अन्तर्गत बातें और भी बहुत कुछ हुई थीं लेकिन उ
सबका प्रकाश यहा प्रासंगिक न होगा। आज प्रायः बारह व
पश्चात पूज्य कविराज जी के उस इंगित को मूर्त्त रूप में देखकर ह
कृतज्ञतापूर्वक उन्हीं के श्री चरणों में शतबार अपना प्रणाम निवेदि
करते हैं।

ग्रन्थ के प्रस्तुत होने में पूज्य दादा शचीकान्त राय की सतत
प्रेरणा अविस्मरणीय रही है। श्रीमान शक्तिनारायण सिंह पत्रकार
तथा 'अलका प्रेस, विनयका' के व्यवस्थापक श्रीमान वसन्तनारायण
सिंह के सहयाग के हेतु हम उनके चिर कृतज्ञ हैं।

और अन्त में उन योगिराजाधिराज के श्री चरणों में हमार
प्रणति निवेदित है, जिनके कतिपय लीला प्रसगों की इस ग्रन्थ में
अल्पांश चर्चा है और जिनके आशीर्वाद से हिन्दी-भाषी भक्त तत्वा
न्वेषी तथा जिज्ञासु सुधीजनों को यह ग्रन्थ उपलब्ध हो सका है।

—शान्तिप्रसाद चन्दोला,

शिक्षा उपनिदेशक—
निवास,
नेपाली कोठी, बरुणापुल, वाराणसी
श्री काशी धाम। रविवार
नवम्बर २३, १९५४

प्रथम परिच्छेद
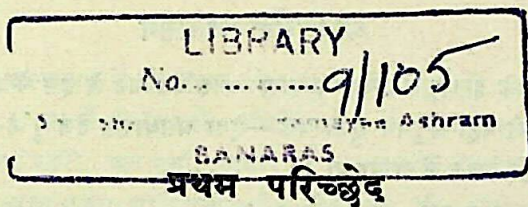
बंगाल के अन्तर्गत वर्धमान जिले में वण्डूल नामक ग्राम है। वहाँ का चट्टोपाध्याय वश दीर्घकाल से स्व-धर्मपालन, अतिथि-सेवा और देव-द्विज-भक्ति के लिए प्रसिद्ध था :

शुभ वंग-फाल्गुन मास का उन्तीसवां दिन था। नवीन वर्ष के समागम पर इस परिवार में एक अति महान गौरव की घटना हुई। वसन्त आगमन का समय था। चारो ओर प्रकृति की लावण्य-छटा विकीर्ण हो रही थी। शस्यश्यामल भूमि की स्निग्धता, वन-भूमि की श्यामलता, आकाश की नीलिमा, नव पल्लवों की शोभा और नव विकसित कुसुमों के सौरभ ने वण्डुल ग्राम को बहुत सुन्दर बना दिया था। मानों यह सब उस महिमा और गौरव का पूर्वाभास था, जो कि इस ग्राम को थोड़े ही समय के पश्चात् प्राप्त होने वाला था। जिसने प्रकृति के गुप्त कक्ष को भेद कर प्रकृति के निगूढ़ रहस्यों को प्रकृति की ही कृपा से एक दिन अपने पूर्ण अधिकार में कर लिया, उस प्रकृति के बालक का जन्म प्रकृति के पूर्ण उन्मेष बसन्त के दिव्य समय में होना ही स्वाभाविक था। जन्म-जन्मान्तर के पुण्य फल से श्री अखिलचन्द्र चट्टोपाध्याय और उनकी सहधर्मिणी देवी राज-राजेश्वरी को भगवती जगन्माता के शुभ आशीर्वाद-स्वरूप एक अपूर्व पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ।

धन्य बण्डुल ग्राम, और उससे भी अधिक धन्य चट्टोपाध्याय वंश और भी धन्य अखिलचन्द्र और देवी राजराजेश्वरी। जिस वंश में एक तत्व-ज्ञानी और भगवद्-भक्त महात्मा जन्म ग्रहण करता है, उस वंश के आगे पीछे की सात पीढ़ियों को सद्गति प्राप्त होती है।

नवजात शिशु को देखकर माता-पिता, परिवार के सब लोग और पड़ोसी भी आनन्द सागर में निमग्न हो गये। उत्तर काल में जिनके लोकोत्तर सामर्थ्य से जगत विस्मित हुआ, वह अपने जन्म मात्र से ही

अलौकिक रूप के द्वारा सब के मन-प्राण आकर्षित कर ले इस में आश्चर्य क्या ? सब को यही अनुभव हुआ कि—ऐसा असधारण तेज पुंज-मय शां शायद ही कहीं देखने में आया हो ।

शिशु की निर्निमेष दृष्टि को देखने से जान पड़ता था कि वह संस्कारों का मोहावरण भेद करके मानो किसी दूरस्थ शान्तिमय-राज्य की वं देख रहा है । मानों वह समझता था कि यह जगत अत्यन्त दुखमय अं वेदनापूर्ण स्थान है, इसीसे इस जगत के दृश्यमात्र को करूण-दृष्टि एक क्षण देखकर फिर वह उसी शान्तिपूर्ण सदानन्दमय अन्तर्जगत की थं ताकने लगता था । जो कोई देखता था, वही समझता था यह बालक असधार है ।

वैष्णवी माया इस शिशु के स्वच्छ अन्तःकरण को विशेष रूप से ब तक भी छू नहीं सकी है । विलक्षण महापुरुष के लक्षण शिशु के देह लक्षित हैं । लक्षण वेत्ताओं ने दैहिक अनुभावादि द्वारा जान लिया था यह बालक एक दिन 'राज-चक्रवर्ती' होगा अर्थात् अध्यात्म-राज्य के सम्रा पद पर आरोहण करेगा ।

शुक्ल-पक्ष के चन्द्रमा के समान बालक धीरे-धीरे बढ़ने लगा । मात पिता ने स्नेह पूर्वक "भोला-नाथ" नाम रखा । नाम सचमुच कितना सार्थ हुआ, इस का प्रमाण शिशु का भविष्य जीवन है । अंग्रेजी में एक कहाव है—"Child is the father of man" अर्थात् मनुष्य भविष्य-जीवन जो अवस्था प्राप्त करने वाला है उस का आभास उसके पूर्व-जीवन में हं मिल जाता है । बालक भोलानाथ की असाधारणता का परिचय उसं बचपन से ही मिलने लगा था । जिन्हें उनके साथ अन्तरंग-भाव से मिल का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे सभी उनके असामान्य भावों को देखक आश्चर्य से दंग रह गये हैं । उनकी जननी, उनके काका, काकी, साथ खेलने वाले बालक भोलानाथ को प्राण से भी अधिक प्यार करते थे । बाल का चरित्र-बल, दृढ़ प्रतिज्ञा, अक्लान्त अध्यवसाय, निर्भीक प्रकृति इन सब उसे अलौकिक वैशिष्ट्य से भरपूर कर रक्खा था ।

बाल्यकाल में भोलानाथ को भगवान की मूर्तियों से खेलना बहुत पसन्द था। घर में ही शिवजी प्रतिष्ठित थे। चण्डी मण्डप के अन्दर श्याम सुन्दर, सिद्धेश्वरी, जय दुर्गा, मनसादेवी, गज-लक्ष्मी, ताल-वेताल, लक्ष्मी-नारायण, बाल-मुकुन्द आदि अनेक देवी-देवताओं की प्रतिमायें विराजमान थीं। बालक उनकी पूजा का ही खेल खेला करता था। अपने हाथ से वन्य-पुष्प तोड़ लाता था, सुन्दर माला बनाता था, तुलसी, बिल्व पत्र तोड़ लाता एवं स्वयं चंदन घिस कर पूजा की सामग्री एकत्र करता था। और फिर मन लगाकर पूजा में जुट जाता था। सभी अवलंबनों द्वारा इस प्रकार प्राण-प्रण से पूजा करते हुए बालक अपने नन्हें से हृदय में तृप्ति और आनन्द का अनुभव करता था!

बिना देव-पूजा किये बालक स्वयं जल तक नहीं पीता था। भविष्य में अध्यात्म-राज्य के गूढ़ तत्वों का आविष्कार करके जिन्होंने जगत को चकित कर दिया, उन महापुरुष के लिए बाल्यावस्था में देवशक्ति के साथ इस प्रकार का घनिष्ठ संबंध होना स्वाभाविक ही था, इस में कोई सन्देह की बात नहीं हैं। बालक की पूजा में कोई प्रचलित विधि, कोई मंत्र अथवा नियम नहीं था तथापि वह सच्चे हृदय से होती थी। प्राण के सहज उच्छ्वास की तरह गम्भीर अन्तःस्थल से पूजा की भावना कार्य करती थी इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। "भाव-ग्राही जनार्दनः।" प्राण का सत्यभाव या भक्ति ही पूजा का सूक्ष्म तत्व है। भाव-रहित पूजा वास्तविक पूजा ही नहीं। मंत्र आदि का आयोजन तो हृदय के सुप्त-भावों को जागृत करने मात्र के लिए होता है। उन का और कोई उद्देश्य नहीं होता। बालक के हृदय में जन्मान्तर के शुभ संस्कारों के कारण, पूर्व कर्म के फल एवं सौभाग्य से शैशवकाल में ही दिव्य भाव का उदय हुआ था, इसी लिए उनकी पूजा बालक का खेल होते हुए भी, वह निश्चय ही आदर्श और सत्यपूजा थी।

सुना जाता है कि साथियों के साथ खेलते-खेलते एक दिन बालक गाँव से कुछ दूर निकल गया। वहाँ बालुका का शिवलिंग स्थापन करके बिल्वपत्र से उसकी पूजा करने लगा। इस बीच एक दुष्ट बालक ने आकर

पूजा में विघ्न डाला; अतः पूजा पूरी न हो पायी। भोलानाथ बड़े ध्यान पूजा कर रहा था। पूजा में अचानक इस प्रकार विघ्न देखकर, बालो क्रोध करके उस लड़के से जोर से कहा—"तूने हमारे शिव जी के स झगड़ा किया है, इसलिए हमारे शिव जी का सांप निश्चय आकर त डसेगा!" यह अभिशाप तो था नहीं, बालक के बाल सुलभ रोष के स उद्गार थे। परन्तु आश्चर्य की बात है कि यह वचन जो मुखसे निकला थ सत्य हो गया। सचमुच उसी दिन उस लड़के को सर्प ने काट लिया; भी आश्चर्य का विषय यह हुआ कि जब वह बालक मृतप्राय हो ग तो भोलानाथ के हस्त-स्पर्श से तुरंत चंगा हो गया। बण्डुल ग्राम के उत्त में भाण्डार-डिहि के समीप श्मशान था। उस जगह एक वटवृक्ष था। उ के नीचे एकान्त निर्जन स्थान में बैठना बालक भोलानाथ को अत्यन्त प्रि था। यह स्थान भी उनको बहुत पसंद था। जब कभी अवसर मिलता, त बालक इस घोर जनहीन स्थान के लिए व्याकुल हो उठता। सुनते हैं शुद्धोदन-पुत्र गौतम (बुद्ध) भी बचपन में इसी प्रकार निर्जन में जा अकेले ध्यान लगाते और उसी तन्मय अवस्था में बैठे रहना पसंद करते थे एक समय जो जरा मृत्यु के आक्रमण से दु:खी जीवों का उद्धार करने लिए व्याकुल हुए थे और ध्यानियों में अग्रगण्य होकर जिन्होंने बोधिला किया तथा जगत के लिए जिन्होंने अष्टांग बोधिमार्ग का प्रदर्शन किया था उनके लिए भी बाल्यकाल से एकान्त वास और निर्जनता पर प्री होना, अवश्य ही स्वाभाविक है। अन्यान्य महापुरुषों के चरित्र भी यह बात मिलती है। ग्राम के वयोवृद्ध लोगों ने बालक की ऐसी विलक्षण प्रकृति देखकर अनुमान कर लिया था कि एक दिन भोलानाथ विशिष्ट और उन्नत अध्यात्म संपत्ति प्राप्त करेगा।

ग्राम के आस-पास किसी साधु-सन्त के आने का समाचार मिलता तो उसको देखने के लिये बालक पागल हो उठता। उस को घर पर रोक रखना असंभव हो जाता।

किसी न किसी प्रकार अवसर निकाल कर सुयोग पाते ही दिन मे

ही तो रात में साधु के पास पहुंचकर बालक अपनी दर्शन लालसा को तृप्त करता था। अवस्था में छोटा होने पर भी बालक साधु के साथ धर्म चर्चा करता था, और प्रसंग पड़ने पर अपनी बुद्धि के अनुसार तर्क–वितर्क करने में भी हिचकता न था।

एक बार बण्डून से कुछ दूरी पर एक सन्यासी पधारे। समाचार पाते ही बालक वहाँ पर जाने के लिए उत्कंठित हुआ। किन्तु किसी कारण दिन में जाने का अवसर न मिला तो रात हो जाने पर भी वहाँ जाने को उद्यत हो गया! बालक ने चेष्टा की कि यदि एक दो साथी मिल जायें तो अच्छा है क्यों कि रात अँधेरी थी। परन्तु उस घनी अँधेरी रात्रि में कोई भी अपने घर से एक पग भी बाहर चलने को राजी न हुआ। अगत्या निर्भीक बालक अकेला ही चल पड़ा और अन्धकारपूर्ण सुनसान जंगल को पार करता हुआ आधी रात के समय सन्यासी के स्थान पर आ पहुँचा। साधु ने ऐसा अदम्य साहस और वह तेजस्विता देखकर कहा—"बालक! क्या ही अद्भुत शक्ति मैं तुम में देख रहा हूँ कि जिस शक्ति के प्रभाव से तुम इतनी छोटी अवस्था में भी इस भयानक अँधेरी रात में, निर्जन अरण्य में से घोर श्मशान तथा लम्बे चौड़े मैदान को अकेले ही पार करके मेरे पास आ पहुंचे हो। तुम अभी अपने को भूले हुए हो। तुम स्वयं अपने को अभी पहचानते नहीं हो। समय प्राप्त होने पर तुम क्या हो जाओगे, इसका पता तुम्हें पीछे लगेगा।

एक बार किसी कारणवश भोलानाथ की भर्त्सना की गयी! वास्तव में बालक का कोई दोष नहीं था। इसलिए उस फटकार के कारण उसके व्यथित चित्त में दारुण स्वाभिमान जाग उठा। तेजस्वी प्रकृति के लिए यह स्वाभाविक ही था! किन्तु वह बालक मनुष्य के ऊपर कभी रूठता नहीं था। क्यों कि उस का विश्वास था कि मनुष्य के हाथ में कोई कर्तृत्व नहीं है, मनुष्य तो केवल निमित्त मात्र है। इसी से वह देवी–देवताओं पर रूठता था। बालक को दुःख तो हुआ ही था। वह रूठा हुआ, श्याम सुन्दर की मूर्तिको हृदय से चिपटाये हुए, आत्म हत्या के विचार से घर की पुष्करिणी

में कूद पड़ा ! किन्तु आश्चर्य की बात यह हुई कि उस पोखरे का जल गहरा होते हुए भी बालक के लिए घुटनों तक ही मालूम पड़ा। उस उथले पानी में उसे डूब मरना संभव न हो सका। बालक जिधर भी जाता उधर ही पानी उथला देखकर विस्मित होता था। यथा समय ठाकुरजी की मूर्ति की तलाश हुई तो घर के लोगों ने खोजते समय यह तमाशा देखा तब बालक को तथा ठाकुर जी को लेकर लोग घर वापस आये।

बण्डूल में चट्टोपाध्याय के घर के निकट बंकिम कुण्डू नामक एक आदमी रहता था। उस के लड़के के साथ भोलानाथ की अत्यन्त मित्रता थी। वह लड़का जब कभी रोग से अत्यन्त पीड़ित होता था तब भोलानाथ श्याम सुन्दर का स्नान—जल उस को पिला देता और उस के माथे पर छिड़क देता था। बस, लड़का रोगमुक्त हो जाता।

एक बार भोलानाथ के काका ने प्रसन्न होकर पहनने के लिए एक धोती खरीदकर ला दी। चचल बालक ने खेल ही खेल में हाथ से फाड़ कर उस धोती के टुकड़े-टुकड़े कर डाले! यह देखकर काका ने बालक को बहुत फटकारा ! बालक ने दु:खी और विस्मित होकर उस छिन्न वस्त्र को मुट्ठी में बाँधकर पुन: फेंका तो देखा गया कि वह वस्त्र पूर्ववत् स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो गया था। यह घटना देखकर लोग चकित हो गये और बालक का देवांश से जन्म बताकर आपस में प्रशंसा करने लगे।

एक बार काका ने भोलानाथ को पहनने को पाँच रुपये का "कम्पनी जूता" खरीद कर ला दिया। बालक ने जूता तो ले लिया; किन्तु उसे स्वयं अपने काम में नहीं लगाया। पड़ोस में रहने वाले शशी कर्मकार के लड़के को उस के विवाह के उपहार में दे डाला। शशी लोहार का वह पुत्र भोलानाथ का खेलका साथी था। इस लिए अपने उस बन्धु के विवाहोत्सव में वह मूल्यवान जूता भेंट स्वरूप दिये बिना भलोनाथ से रहा नहीं गया। काका इस बात से बहुत क्रुद्ध हुए और भोलानाथ की अत्यत भर्त्सना की। उस समय में पाँच रुपये मूल्य का जूता कोई साधारण सुलभ चीज नहीं थी। फिर ऐसी वस्तु स्वयं न पहकर बाहरी व्यक्ति को दे डालना वृद्ध चंद्रनाथ

बाबू की दृष्टि में बड़ा भारी अपराध था।

काका की फटकार से भोलानाथ के चित्त में बहुत दु:ख उत्पन्न हुआ। कहते हैं कि बालक ने घर की नौकरानी से कुछ रुपये उधार लिये और एक नौकर के कन्धे पर चढ़कर बालक बर्धमान गया उन रुपयों से कई एक शीशियाँ कुनैन की मोल ला कर गाँव में फुटकर बिक्री करना प्रारंभ किया। उससे बहुत रुपयों का लाभ हुआ। नौकरानी के रुपये दुगुने व्याज-सहित वापिस दे दिये और बाकी रुपयों के जूते खरीद कर गाँव के सब लोगों को बाँट दिये।

भोलानाथ की अवस्था केवल छः महीने की थी, तभी उनको पितृ-वियोग हुआ। तभी से काका ने पिता का स्थान लिया और अपने पुत्र की तरह उनका पालन किया। बाल्य-काल में उन्हें अंग्रेजी पढ़ाने के लिए काका ने बड़ी चेष्टा की। किन्तु अनेक ताड़ना सहन कर के भी बालक अंग्रेजी पढ़ने को राजी न हुआ। संस्कृत के ऊपर बालक को बहुत प्रेम था। सुना जाता है कि नवद्वीप के विख्यात पडित विद्यारत्न महाशय के पास भोलानाथ ने कुछ दिन संस्कृत का अध्ययन किया था।

जब भोलानाथ की अवस्था आठ वर्ष की थी, उन के काका का भी स्वर्गवास हो गया। घर के सभी लोग व्याकुल होकर विलाप करने लगे। किन्तु भोलानाथ की आँखों में किसी ने आँसू की एक बूँद भी नही देखी। इससे सब को बड़ा आश्चर्य हुआ। बाल्यावस्था होने पर भी मोह माया का प्रभाव उन पर कम था। इस बात से यहीं मालूम होता है। सुनते हैं कि तेरह वर्षकी अवस्था तक बालक धोती ही नहीं पहनना चाहता था। यदि कोई धोती पहना दे तो वह उसे किसी को दे डालता था। जब काका नाराज होते तो वह कह देता—"धोती न पहन कर नंगे रहने में दोष ही क्या है? वृथा आवरण किस लिए?"

ये सभी बातें बहुत छोटी; परन्तु छोटी होने पर भी उपेक्षणीय नहीं हैं। इन के द्वारा भावी जीवन-धारा का पूर्वाभास मिलता है। मनुष्य का

महत्त्व और गौरव दीर्घ साधना का फल होता है। यह अवश्य मानना पड़ेगा कि जन्म–जन्मान्तर के तीव्र अध्यवसाय एवं एकनिष्ठ उद्यम के परिणाम स्वरूप मनुष्य उन्नति के उच्च शिखर पर आरोहण करने में समर्थ होता है। बाल्यकाल की विशेषताएं अतीत साधना का निदर्शन कराती है और भविष्य की सिद्धि की सूचना देती हैं। जो लोग भोलानाथ को बचपन में अन्तरंग भाव से जानते थे, वे लोग भविष्य जीवन में इस सत्य को पग पग पर प्रत्यक्ष प्रमाणित होते हुए देखकर विस्मित एवं चमत्कृत हो गये थे।

बालक की मातृ-भक्ति जगत में कहीं देखने में नहीं आती। बाबाजी कहा करते थे कि—उनकी सब प्रकार की उन्नति जननी के आशीर्वाद से ही संपन्न हुई है।

एक बार माता जी को विशूचिका हो गया। ग्राम और आसपास के कई चिकित्सकों ने औषधोपचार किया। इलाज बहुत अच्छी प्रकार से हुआ और सेवा-शुश्रूषा में भी कोई कसर नहीं रखी गयी परन्तु दवा से रोग शान्त नहीं हुआ। ज्यों ज्यों दिन बीतते थे त्यों–त्यों रोग की अवस्था और भी सन्देह जनक होती जाती थी। चिकित्सकों ने बारीकी से नाड़ी परीक्षा कर रोगी की दशा असाध्य बतला दी। रोगी का उस दिन बचना भी उन्हें संदिग्ध मालूम होता था। काका और काकी भोलानाथ को कभी कभी दुलार से "पगले चाचा" कह कर पुकारते थे। उन का विश्वास था कि बालक के मुह से जो बात निकल जाती है, वह कभी झूठी नहीं होती, वह अवश्य ही सत्य होकर रहती है। काकी ने भोलानाथ को बुलाकर पूछा—"ऐ पगले चाचा —अच्छा बताओ तो सही, हमारी दीदी बचेंगी कि नहीं।" संसारान-भिज्ञ सरल बालक बिना आगा पीछा सोचे तुरन्त बोल उठा—"हाँ, अच्छी हो जायँगी।" सीधे–सादे बालहृदय को यह पता नहीं था कि विशूचिका कितना भयंकर रोग होता है तथा उस समय माता की अवस्था कितनी संकटापन्न थी। संसार में आने के थोड़े ही दिनों में, बालक पितृ–स्नेह से वंचित हो गया था। केवल अपनी माँ की गोद में उसका लालन पालन हुआ था। सोते जागते एकमात्र माँ के सिवा और किसी भी संसार की

वस्तु के प्रति भोलानाथ को आकर्षण न था। केवल माँ की धुन थी। वह कभी 'मातृहारा, हो सकता है, माँ से कभी वियोग संभव है यह धारणा ही उस बच्चे में न थी। इसलिए निर्विचार भाव से ऐसा एकाग्र लक्ष्य भरा उत्तर उस मातृभक्त सन्तान के मुख से सहज निकल पड़ा।

रोगी की अवस्था इधर बराबर गिरती जा रही थी। घर के सब लोग चिन्ता से व्याकुल थे। जीने की जो कुछ आशा बची थी, वह क्रमशः क्षीण हो रही थी। आसन्न मृत्यु की कराल छाया खाली रोगी के मुख पर ही नहीं बल्कि सभी कुटुम्बीजनों के मुख पर मानों छा रही थी। बालक एकबार अपनी जननी के मुख की ओर ताकता और एकबार आत्मीय स्वजनों की गंभीर तथा विषाद भरी गतिविधि को निरखता। होनहार अचूक दुर्घटना के पूर्व लक्षण देखकर बालक का हृदय स्तंभित हो गया। मातृभक्त तथा मातृ-गत-प्राण बालक यह सोच ही नही पा रहा था कि उसकी माता उसे छोड़कर किसी अनजान देश को चली जायगी; और वह मातृ विहीन हो जायेगा। बस, फिर क्या था, बालक एकदम रूठ गया। जिन ठाकुर जी और देवताओं की उसने अब तक पूजा की थी, उन्ही के उपर रुष्ट हो गया। उसके आँखों से आँसू छलकने लगे, हृदय में पीड़ा होने लगी; किन्तु किसी को न बोलकर, अपने अंतस् की वेदना किसी से प्रकट किये बिना वह एक निर्जन स्थान में चला गया। घर के पीछे एक गोशाला थी। उसके भीतर प्रवेश कर के जहाँ पर मचान के ऊपर कंडे जमा किये रखे थे, वहाँ अंधेरे गुप्त स्थान में हाथ में लोहे का शब्बल लिये हुए, खूब सावधानी से जाकर चुपचाप बैठ गया। बालक मन ही मन सोच रहा था कि आज उसकी परीक्षा का दिन है इतने दिन तक जिन देवी देवताओं की सेवा की है, जिन को सरल अंतःकरण से पुकारा है, उन सब की आज मैं परीक्षा कर के देखूं कि इस संकट में उनसे कोई प्रत्युत्तर पाया जाता है या नहीं। उसने चित्त में यह भी ठान रखा था कि यदि कोई दुर्घटना घटेगी तो रातो रात उन सब देवी-देवताओं को तोड़-फोड़ कर मन्दिर में आग लगा दूंगा। बालक इस विचार से गोशाला में बैठा हुआ था और घर के लोग इधर रोगी के

पास इतने व्यस्त हो रहे थे कि किसी को भी बालकको खोजने की सूझी ही नहीं। भगवान की कृपा से रोगी की दशा क्रमश: सुधरने लगी। वैद्य लोग भी ढाढ़स बँधाने लगे। संध्या समय बालक की खोज हुई। परन्तु उसका कहीं पता न चला। इधर वह शब्बल भी नहीं। खोजते खोजते काकी को गोशाला में शाबल तो मिल गया परन्तु भोलानाथ कहीं भी दिखायी न पड़ा। सन्ध्या समय मच्छर भगाने के लिए धुआँ करने को चरवाहे से कहा गया। वह मचान पर से कण्डे लाने गया। कहने की आवश्यकता नहीं है कि—वहाँ पर बालक बैठा हुआ मिला। माता को आरोग्य लाभ हुआ यह शुभ समाचार सुनकर उसकी दुश्चिन्ता दूर हो गयी। मरणासन्न दशा में माता ने बता दिया था कि—उस का गुप्त धन पूजा गृह में किसी विशेष ठौर पर गड़ा रक्खा है। परन्तु बालक को उसके लिए रंच मात्र भी लोभ उत्पन्न नहीं हुआ।

नौ वर्ष की अवस्था में बालक का यज्ञोपवीत संस्कार किया गया। उपनयन के पश्चात सावित्री अर्थात् गायत्री देवी के प्रभाव से बालक का स्वाभाविक ब्रम्हचर्य तेज शतगुण होकर बढ़ने लगा। सुना जाता है कि—बण्डूल के शिवलिंग में भोलानाथ को हर पार्वती की मूर्ति के दर्शन हुए थे। शिव लिंग अपने आप दो टुकड़े हो गया था। उसके अन्दर युगल मूर्ति तथा अन्यान्य दिव्य मूर्तियों के प्रत्यक्ष जीवान्त दर्शन पाकर बालक कृतार्थ हुआ था।

द्वितीय परिच्छेद

मनुष्य के जीवन में परिवर्तन किस का तथा किस निमित्त को लेकर घटित होता है यह बताना अत्यन्त कठिन है। मकड़ी के जाले की तरह अतिशय सूक्ष्म, अदृष्ट सूत्रों पर जीवन का अति विशाल और जटिल प्रासाद प्रतिष्ठित रहता है। प्रारब्ध-कर्म, ईश्वरेच्छा अथवा स्वभाव की प्रेरणा, ये एक ही अजाना और अज्ञेय महाशक्ति के कल्पित पृथक् पृथक् नाम मात्र हैं। यह महाशक्ति लौकिक घटनाओं को निमित्त रूप से अवलंबन करके किस जीवन को किस प्रकार नियंत्रित करती है यह जानना बहुत कठिन है। लौकिक कारण यद्यपि बाहरी दृष्टि से विशिष्ट रूप में भासमान होता है. तथापि ज्ञानातीत मूल — कारण की तुलना में वह एक प्रकार से उपेक्षणीय ही समझो। बहुधा ऐसा होता है कि जिस को हम बहुत बड़ी दुर्घटना मानते हैं, वही आगे चलकर भविष्य-जीवन की उन्नति की पूर्व सूचना प्रमाणित होती है। सामयिक दृष्टि से जो अशुभ मालूम होता है, वही महामाया के मगल विधान से अत में परम शुभ और महामंगल रूप बन जाता है। इसी प्रकार एक आकस्मिक अशुभ घटना भोलानाथ के जीवन को सदा के लिए एक अभिनव पथपर ले जाने के लिए यत्र बन गयी। प्रसंग वश उसी घटना का यहाँ पर वर्णन किया जा रहा है।

भोलानाथ की अवस्था चौदह या पन्द्रह वर्ष की हुई होगी। किशोर अवस्था अब भी समाप्त नहीं हुई थी। एक दिन सीढ़ी से नीचे उतरते समय हठात् एक पागल कुत्ते ने बालक के पैर में काट लिया। बालक कुछ अनमनासा असावधान दशा में नीचे उतर रहा था। कहीं कुत्ता है और वह अचानक काट खायेगा, इसकी कल्पना तक बालक के मन में न थी। काटने

का प्रभाव थोड़े ही समय के भीतर मालूम होने लगा। समस्त देह में ऐसी जलन होने लगी कि रहा नहीं जाता था। बालक ने कुत्ते के काटने का हाल तुरन्त घर वालों से बताया। उसके दादा चिकित्सक थे। अन्य डाक्टरों तथा वैद्यों की सहायता से उन्हों ने स्वयं दवा आरंभ की। नियम-पूर्वक इलाज किये जाने पर भी बालक की दशा शीघ्र ही सत्यन्त शोचनींय हो गयी। जब स्थानीय चिकित्सा से कोई लाभ न हुआ, बालक को गोंदलपाड़ा ले गये। वहाँ की प्रसिद्ध औषधि खिलायी। किन्तु उससे भी उपकार न हुआ। इधर विष भयंकर रूप से पूरे शरीर में फैलने लगा। असह्य वेदना से बालक चीख मार कर रोने चिल्लाने लगा। ऐसी दशा में बालक को गोंदलपाड़ा से तुरन्त हुगली ले गये। वहाँ एक आटे की चक्की का मालिक भोलानाथ के काका का बालकपन का साथी था। उसी के घर में ठहरना हुआ। हुगली में भी कुत्ते के विष के बड़े-बड़े इलाज हुए। परन्तु सब व्यर्थं। अब बालक की आशा जाती रही। उसने समझ लिया कि—बस, उसकी जीवन-रक्षा का कोई भी उपाय अब नहीं है।

उस समय सन्ध्या आ पहुंची थी। सूर्य-देव अस्त होने जा रहे थे। पश्चिम आकाश में लालिमा छा रही थी। और भागीरथी के जल पर उस का रक्त-वर्ण प्रतिबिम्ब पड़कर चारो ओर लालिमा विकीर्ण कर रहा था। सुख-स्पर्श वायु हलके गंगा जल को हिला रही था। छोटी छोटी लहरियां गंगा-वक्ष पर खेल कूद करने में लगी थीं। इस दृश्य को बालक एकटक हो कर देख रहा था। मन उसी में तल्लीन था। वायु के झोंकों से संचालित गंगा-तरंगों की तरह उसके बाल हृदय में भी आशा एवं आकांक्षा की कितनी कितनी लहरें उठतीं और विलीन हो रहीं थीं; इसका इतिहास कोई क्या जाने। अस्तोन्मुख सूर्यदेव को देखकर बालक के मन में भी यही विचार आया कि मेरा जीवन-सूर्य भी इसी प्रकार अब डूबने वाला है। मन में क्या जाने क्या सोचता हुआ बालक वहाँ से उठकर धीरे—धीरे गंगा तट पर आ पहुंचा। शायद मन में यह इच्छा हुई कि स्निग्धसलिला जान्हवी की शीतल गोदी में अपने को अर्पण कर दूं और हमेशा काल के लिए संतप्त प्राणों की

ज्वाला को शान्त कर दूं। किन्तु गंगा के निकट पहुंच कर उसने एक ऐसा दृश्य देखा कि उससे वह चकित हो गया। उसे आत्म–विस्मृति हो गयी। वह चित्र लिखे की तरह स्तब्ध खड़ा हुआ, उस अपूर्व दृश्य को एक टक निहारने लगा। उसने देखा कि—गंगा की धारा में एक जटा-जूटधारी सौम्यमूर्ति संन्यासी बारबार पानी में डूबता है और बार बार उपर आता है। गंगाजल साधू के साथ साथ एक स्तम्भ की तरह उपर की ओर उठता है और फिर से नीचे गिर जाता है। सन्यासी का मुख मंडल प्रशान्त था, दोनों चक्षु उज्ज्वल अथच मधुर थे। देखने से ऐसा लगता था कि अलौकिक ज्ञान तथा करुणा उभय एक साथ मिलकर दुःख भरी धरणी के उद्धार के लिए स्वयं आकर प्रकाशमान हुए हों। सन्यासी त्रिकालज्ञ महापुरुष थे। जिनके लिए कोई बात अज्ञात अथवा अज्ञेय नहीं थी। बालक की ओर देखते ही उन्होंने बालक का सारा हाल जान लिया और उसकी मनोवेदना को पूरी तौर से समझ लिया। उन्होंने अत्यंत स्नेह, मधुर एवं गंभीर स्वर से बालक को पुकार कर कहा :—"बच्चा। इतना क्यों घबराते हो ? दर्द होता है ? अच्छा, हम सब अच्छा कर देंगे।" यह कहकर वे तीर पर आ गये। और बालक के सिर पर अपना हाथ रख दिया। उन के स्पर्श मात्र से ही बालक को ऐसा जान पड़ा कि उस के सिर पर न जाने कितनी भारी बरफ की ठंढक पहुंच रही है। ऐसा मालूम होने लगा मानों उस की शिराओं में और धमनियों में रक्त को जगह शीतल अमृत की धारा प्रवाहित हो रही है। देखते देखते उस की समस्त ज्वाला-यंत्रणा बिलकुल दूर हो गयी। मृत्यु का भय और विपत्ति की आशंका सब कट गयी और जीवन में नवीन आशा का संचार हो गया। संन्यासी ने वहीं से एक औषधि लाकर खिला दी और उसको घर लौट जाने को कहा। बालक घर वापस आ गया। उस समय उसकी रोगजनित यंत्रणा बिलकुल मिट गयी थी। दूसरे दिन फिर से वह गंगा किनारे उसी स्थल पर पहुँचा और महापुरुष को पुनः पुकार नम्र स्वर में उनसे प्रार्थना की – "प्रभो, आप ने मुझे जीवनदान दिया है। मैं आपको अब छोड़ नहीं सकता। आप मुझे दीक्षा दीजिए

और धर्म-जीवन का पथ-प्रदर्शन करिए।" महापुरुष ने बालक को एक आसन सिखा दिया और एक बीज मंत्र दे दिया और कहा—'इस आसन का अभ्यास करो और इस मंत्र का जप करो। इससे ही तुम्हारी देह शुद्धि होगी। हम तुम्हारे गुरु नहीं हैं। जो तुम्हारे गुरु होंगे वे अन्यत्र हैं, यहां से दूर हैं। वे ही तुम्हारी मनःकामना पूरी करेंगे। उनकी कृपा से तुम्हारे सब अभाव दूर होंगे और तुम धर्म-जगत में शीर्षस्थान प्राप्त करोगे। इस प्रकार तुम्हारा जीवन सार्थक होगा। इस समय तुम अपने घर चले जाओ हम गंगासागर जाते हैं। जब समय आयेगा, तब हम तुमको संग लेकर तुम्हारे गुरुदेव के पास पहुँचा देंगे। बस निश्चिन्त रहो।"

बालक की इच्छा नहीं हो रही थी, तथापि उसे घर लौट आना पड़ा। घर में आने के पश्चात् कई दिन तक पेशाब के साथ साथ कुत्ते के पिल्लों जैसे छोटे छोटे कतरे से जाने क्या गिरते थे और फिर बालक को पूर्ण आरोग्य लाभ हुआ। माता ने जब पुत्र से सुना कि किस अलौकिक रीति से उस को आरोग्य प्राप्त हुआ, तो वह आनन्द में निमग्न हो गयीं।

महापुरुष के चले जाने पर एक दो वर्ष बीत गये। उस समय भोलानाथ वर्धमान में काञ्चन-नगर मेस में रहकर विद्या अध्ययन करते थे। साथ में उन के मौसेरे भाई भी रहते थे। एक दिन विश्वरूप साधु नामक एक दूकानदार के पास वह कुनैन खरीदने गये थे। उस जगह एक मुसलमान के मुँह से सुना कि ढाका में एक असाधारण सन्यासी आये हैं। अधिकांश समय वे जल में रहते हैं, और बारंबार पानी में डूबते और उतराते हैं। जब वे पानी से बाहर आते हैं, उनके साथ साथ जल राशि उपर उठ करके एक ऊंचे स्तम्भ का आकार धारण कर लेती है और जब वे पुनः डूबते है तो नीचे गिर जाती है। मुसलमान के द्वारा यह बात सुनते ही तुरन्त भोलानाथ की पूर्व स्मृति जाग उठी। उन सन्यासी के दर्शन के लिए बालक का मन व्याकुल हो गया। उस ने अविलंब ढ़ाका की ओर प्रस्थान किया। वर्धमान के एक हरिपद नामक नवयुवक के साथ इधर भोलानाथ का परिचय हो चुका था। संन्यासी के दर्शनार्थ भोलानाथ के साथ वह भी चल पड़ा। दोनो जन ढ़ाका पहुंचे। उन अलौकिक सन्यासी से मिलने की तीव्र लालसा में चारो ओर

उनकी खोज में घूमने लगे। अन्ततोगत्वा रमना के मैदान में एक निर्जन स्थान में उन्हीं महापुरुष के साथ उन दोनों का साक्षात्कार हुआ। देखते ही भोलानाथ ने तुरन्त पहचान लिया कि ये ही मेरे प्राणदाता, उस हुगली घाट के सन्यासी हैं। भक्ति पूर्वक उनके चरणों में मस्तक रख दिया। और हाथ जोड़कर विनय की—"प्रभो। अबकी बार मुझे ग्रहण कीजिए और अब मुझे मना न करिये।" संन्यासी बोल उठे—अरे अकेले न आकर अपने साथ दूसरे को क्यों ले आये हो ? लस्तु।" इतना कहकर उन्होंने दोनों को ही शिष्य रूप में स्वीकार कर लिया और साथ में ले जाने को राजी हुए।

तृतीय परिच्छेद

जगत के कल्याण साधन के लिए युग-युग में जितने भी महापुरुष अवतीर्ण हुए हैं, उन सबने समान रूप से त्याग एवं वैराग्य का पथ प्रदर्शित किया है। त्याग और वैराग्य के बिना जीवन गठित नहीं होता, साधन-सपत्ति प्राप्त नहीं होती और नित्य-धर्म के अनुष्ठान का सामर्थ्य उत्पन्न नहीं होता। विषय-वासना में बंधा हुआ भोग लोलुप जीव त्याग की महिमा कैसे समझ सकता है ? अमृतत्व प्राप्त करने के लिए वास्तव में यही एक मात्र सोपान है। एक दिन यह बात मनुष्य के समझ में आ जाती है और समझ में आते ही वह अनित्य की सेवा त्याग देता है तथा नित्य का आश्रय ग्रहण कर लेता है।

बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, चैतन्य जिस किसी महापुरुष का जीवन चरित्र देखिए तो सब में उपरोक्त एक ही बात मिलेगी। त्याग के इसी सनातन पथ पर आज एक नवयुवक उसी लक्ष्य के साथ बुद्ध और चैतन्यदेव जैसा अनन्त की ओर 'महाभिनिष्क्रमण' करने को उद्यत हुआ है। आज उसके हृदय में जिस अलौकिक भाव का उदय हुआ है, उसको शायद मोहान्ध संसारी जीव न समझ सकें। जन्म जन्मान्तर की कठोर तपस्या के फल से, कितने कितने सत्संगों के महात्म्य से, भगवान की कृपा से आज युवक के हृदय में एक अनिर्वचनीय उच्छ्वास का उदय हुआ है। पागल कुत्ते का काटना तो एक निमित्त मात्र था। विमाता के तिरस्कार को निमित्त बनाकर एक दिन ध्रुव अनन्तपुरुष की खोज में घर से बाहर निकल पड़ा था। युवक भोलानाथ की भी यही दशा थी ! स्नेहपूर्ण आत्मीय स्वजन, स्नेहमयी वात्सल्यशालिनी जननी, चिर-परिचित गृह परिवार, समस्त संगी-साथी, सांसारिक आशा और आकांक्षा इन सबका त्याग करके आज वह एक अपरिचित अज्ञात पुरुष के साथ और उससे भी अधिक अज्ञात तथा अपरिचित किसी पदार्थ की खोज में किसी अनजान स्थान में जाने के लिए उद्यत हुआ है।

भोलानाथ के मन की परीक्षा लेने के लिए महापुरुष ने पूछा—"क्या तुम मेरे साथ उस दुर्गम स्थान में जाने का साहस करते हो ? क्यों कर तुम तो अब भी बालक हो, इसीलिए तुमसे पूछ रहा हूँ ! यदि चलने की उत्कट इच्छा है तो संध्या के बाद हमारे पास आ जाना—हम तुम दोनों को अपने साथ ले चलेंगे।"

संन्यासी की ऐसी आश्वासनपूर्ण वाणी सुनकर भोलानाथ के हर्ष का कोई परवाह न रहा। ठीक समय पर वह अपने साथी के समेत निर्दिष्ट स्थान पर संन्यासी के सामने हाजिर हो गया। संन्यासी ने उन दोनों की आँखों पर पट्टी बाँध दी और उनको अपने पीछे करके साथ लेकर वे आगे बढ़े।

अँधेरे जंगल से होकर संन्यासी धीरे-धीरे चलने लगे। दोनों युवक उनका हाथ पकड़े पकड़े उनके पीछे चल रहे थे। किन किन स्थानों को पार करते हुए, किस मार्ग से, किधर जा रहे थे, इसका न तो भोलानाथ को भान था और न हरिपद को ही। ऐसा मालूम पड़ता था मानों किसी कोमल सुख-स्पर्श बिछौने के ऊपर होकर वे आगे बढ़ रहे थे। यद्यपि वे लोग साधारण गति से ही चले जा रहे थे तथापि स्पष्ट ऐसा जान पड़ता था, मानों किसी अनैसर्गिक शक्ति के आकर्षण से वे आकाश मार्ग से जा रहे हों। पानी की लहरों को चीरते हुए जैसे जलचर प्राणी अथवा नाव चलती है, वायु मण्डल में कम्पन उत्पन्न करके प्रतिस्तर में वायु की लहरों को भेद कर जैसे वायुयान अथवा व्योमचारी पक्षी स्वच्छन्द विचरण करते हैं इसी प्रकार वे भी चले जा रहे थे। यद्यपि प्रतीत होता था कि वे दोनों पैदल ही चले जा रहे हैं तथापि थोड़ी ही देर बाद वे समझ गये थे कि यह चलना मामूली चलना नहीं है। समस्त रात्रि इसी प्रकार पार होने पर जब सबेरा हुआ तब महापुरुष ने दोनों के नेत्रों पर से पट्टी खोल डाली। चारो ओर देखकर उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। देखते क्या हैं कि किसी पर्वतश्रेणी के समीप एक देवालय है उस के बगल में लोग खड़े हैं। मन्दिर के भीतर अष्टभुजा देवी का मूर्ति विराजमान थी। वहाँ पर एक भी बंगाली को आसपास न देखकर उनका

अनुमान हुआ कि वे किसी दूर देश में आ पहुंचे हैं। पूछने पर मालूम हुआ कि उस स्थान का नाम "विन्ध्याचल" है और मन्दिर में विराजमान देवी स्वयं 'विन्ध्यवासिनी' हैं। एक रात्रि में ही नदी और पर्वत-मालाओं लांघ कर पैदल इतनी दूर कैसे आ गये, यह उनकी समझ में नहीं आ रहा था। उन दोनों को अष्टभुजा मन्दिर के पास एक सुरक्षित स्थान में छोड़कर संन्यासीजी अन्तर्ध्यान हो गये। जाते समय कह गये कि तुम लोग यहाँ कोई भय मत करना। हम कुछ दिन बाद वापस आकर तुमको अपने साथ ठीक यथा स्थान ले चलेंगे।"

संन्यासीजी के अन्तर्ध्यान हो जाने पर भोलानाथ और हरिपद कुछ चिन्तित होने लगे। उन लोगों ने पहले कभी भी किसी दूर देश की यात्रा नहीं की थी। अतः इस प्रकार जंगली जानवरों से भरे हुए भयानक निर्जन प्रदेश में अपने को अकेले उपस्थित देखकर कुछ समय के लिए किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। बंग-भाषा के सिवा और कोई दूसरी भाषा भी वे लोग नहीं जानते थे। फिर ऐसे विजन स्थान में आ पड़े थे जहाँ पर बंगला भाषा बोलने वाले किसी व्यक्ति से भेंट होने की कोई संभावना न थी। क्वचित् कभी कोई एक दो जन वहाँ देवी के दर्शनार्थ आये भी, तो वे थे हिन्दी-भाषाभाषी। उन लोगों की बोली समझना उन उभय वंग साथियों के लिए भारी समस्या लगने लगी।

इस पर अतिसमीप चारो ओर निबिड़ वन-भूमि निहार कर हिंस्र जन्तुओं की आशंका से मन में कुछ भय सा लगने लगा। जो कुछ भी हो, इस प्रकार दुश्चिन्ता में पड़े-पड़े कई घंटे बीत चुके; तब देखा कि एक श्याम वर्ण ब्राह्मण व्यक्ति उन दोनों के लिए भोजन सामग्री लेकर उनके पास उपस्थित है। वह व्यक्ति कौन है, कहाँ से आया, किसने आज्ञा देकर भेजा यह कुछ भी वे लोग समझ न सके। खाद्य वस्तुएं उन दोनों के सामने रख कर ब्राह्मण तुरन्त चला गया। उसके बाद दोनों ने खूब तृप्त होकर भोजन किया और वहीं पर विश्राम करने लगे। सन्ध्या समय वही ब्राह्मण फिर आया और उन्हें खाने की चीजें देकर चला गया।

संन्यासीजो के अन्तंर्ध्यान होनें पर भोलानाथ को लगा था कि उनके वे संगी–महात्मा सन्ध्या समय जरूर पुनः लौट आयेंगे एवं पहिले की नाईं फिर से दोनों जन को साथ लिवा जायेंगे। परन्तु सायंकाल बीत गया तब भी वे नहीं पधारे। जब ऐसा देखा, स्वभावतः उनका मन कुछ उद्विग्न हो उठा। अपरिचित देश, निर्जन पर्वतशिखर, खुला आकाश और हिंसक जन्तुओं से भरा भीषण अरण्य ऐसे निबिड़ अंधकारमय स्थान में किस भाँति समय व्यतीत करेंगे, इस सोच में वे व्याकुल हो गये थे। फिर मन को स्थिर करके एक वृक्ष के ऊपर चढ़ गये। और एक शाखा के साथ अपने शरीर को कस कर के बांध लिया। उनके साथी ने भी देखादेखी ऐसा ही कर लिया।

इस प्रकार बड़ी दुश्चिन्ता में, बहुत कष्ट के साथ दोनों ने ज्यों त्यों रात बितायी। जब प्रभात हुआ तो वृक्ष से नीचे उतर कर पूर्ववत् अष्टभुजा देवी के मन्दिर में गये। दिन को वहीं पर निवास किया। उस दिन भी वही साँवले रंग का ब्राह्मण पहले दिन जैसा ठीक समय पर हाजिर हुआ एव भोजन देकर चला गया। दोनों ने खाया। परन्तु उस दिन जब सन्ध्याकाल में बाघ की गर्जना सुनाई पड़ी तो वे अत्यंत भयभीत होकर विह्वल हो उठे। भोलानाथ तो अपनी माँ की गोद से कभी अलग हुए ही नहीं थे। आज इस प्रकार पराये देश में विजातीय भूमि में अपने को नितान्त निराश्रय पाकर वे अत्यंत कातर हो गये। आँसुओं की धारा बहने लगी। वक्षस्थल प्लावित हो गया। रह-रह कर घर की सुखस्मृति मन में जागने लगी। युवक को चित्त में निश्चय ही ऐसा लगा मानों मृत्यु आसपास घूम रही है। उसके पंजे से छूटने का कोई उपाय नहीं दीख रहा था। भय से ग्रस्त, चिन्ता से त्रस्त किसी तरह कुछ समय और बीता अपने बचावनहार की आतुर प्रतीक्षा में। पश्चिम आकाश में सुदूर नजर पहुँची। तो क्या दृश्य देख रहे हैं मानों एक ज्योतिर्मय गोलक आकाश मार्ग से उनकी ही ओर धीरे-धीरे निकट चला आ रहा है।

नवोदित सूर्य किंवा पूर्णचन्द्र जैसे अखण्ड मण्डलाकार प्रकट होकर लोगों को आकाश में दिखाई देता है, उसी प्रकार एक ज्योतिर्मय मण्डल उनकी दृष्टि के सामने आ गया। जैसे जैसे वह समीप पहुँचने लगा, वैसे-वैसे उसके आकार की विशेषता स्पष्ट दिखाई देने लगी। दोनों नवयुवकों ने जब यह अपूर्व दृश्य देखा तो वे एकबारगी विस्मित और स्तंभित हो गये। जब वह और निकट आ गया तो देखने से और भी स्पष्ट मालूम हो गया कि दूर से जो ज्योतिर्मण्डल भासता था, वह वस्तुतः ज्योतिर्मण्डल नहीं है, बल्कि वह तो मनुष्यकी मूर्ति है तथा जो प्रकाश उसे घेरे हुए है उसी का प्रभामण्डल है। मूर्ति आकाश मार्ग से नीचे उतरी। उसने दोनों युवकों को आशीर्वाद दिया। मूर्ति के मस्तक पर जटाजूट था, हाथ में त्रिशूल, ललाट में रक्त चन्दन की बिन्दी, गले में रुद्राक्ष की माला थी। मुख पर स्निग्ध और करुणापूर्ण हास्य-रेखा शोभायमान थी। वह एक सिद्ध भैरवी की मूर्ति थी। भैरवी माता ने दयार्द्र स्वर से भोलानाथ को पुकारा तथा बँगला भाषा में कहा—"वत्स! तुम इतना रोते क्यों हो? तुम्हारा रोना देखकर मैं स्थिर नहीं रह सकी, अतः तुम्हारे पास मुझे दौड़ आना पड़ा!" इस प्रकार कहकर उसे अपनी गोद में उठा लिया और माता की नाईं वात्सल्य—प्यार से उसके समस्त शरीर पर अपना सुखस्पर्श हाथ फेरने लगी।

भोलानाथ ने सहज भाव से पूछा—"माँ! आप कौन हैं और आपका निवास स्थान कहाँ है? यहाँ मेरे रोने का पता आपको वहाँ पर कैसे चल गया और आप तुरन्त कैसे यहाँ आ पहुँची? यह सब देखकर मुझे इतना आश्चर्य लग रहा है कि मैं अवाक् हो गया हूँ!" भैरवी माता ने उत्तर दिया—"बेटा भोलानाथ! तुम अभी प्रकृति के रहस्य का भेद नहीं जानते! मैं कौन हूँ इसका परिचय अभी तुम्हें न दूँगी आगे समय होने पर तुम मुझे जान पाओगे। तब भी इतना जान रखो, मैं तुम्हारी जननी के तुल्य हूँ, तुम मेरे सन्तान के सदृश हो। मैं चाहे कहीं भी रहूँ, तुम मेरे पास में ही रहोगे। तुम तो नित्य-निरन्तर मेरी नजर के सामने दीखते हो

तब तुम किसी बात का भय क्यों करोगे ? जो तुमको अपने साथ यहाँ पर लिवा आये हैं, वे और हम उभय एक ही सम्प्रदाय के हैं। वे हैं महापुरुष ! समय होने पर वे तुमको स्वयं दर्शन देंगे। आज से तुमको किसी प्रकार का भय नहीं रहेगा। फिर भी यदि तुम कभी व्याकुल होओगे तो मैं तुरन्त आ जाऊँगी। मेरे पास तुम्हें कोई संवाद भेजना न पड़ेगा। मेरा स्मरण करते ही तुम मेरा दर्शन पाओगे। आज इतना ही। बस, अब मैं जाती हूँ।" यों कहकर भैरवी माता क्षणमात्र में अन्तर्ध्यान हो गयीं।

बाद में पता चला था कि इन भैरवी माता का नाम है—"उमा भैरवी"।

विन्ध्याचल में पाँच छः दिन व्यतीत होने पर दोनों युवकों के सामने वे ही महापुरुष फिर से आकर उपस्थित हो गये। इस बार जानने में आया कि उनका नाम है—"परमहंस नीमानन्द स्वामी।" उन्होंने इस बार भी दोनों की आँखों पर पहले जैसी पट्टी बाँध दी और उन्हें आगे ले गये। विन्ध्याचल से प्रायः सोलह मील दूरी पर एक आश्रम था। वहाँ पर कई एक साधु महात्मा इकट्ठे हुए थे। महापुरुष उसी स्थान में जाकर हाजिर हुए और भोलानाथ तथा हरिपद को उसी जगह छोड़कर महापुरुष चले गये। फिर से एक दिन लौटकर दोनों को वहाँ से 'तुकजी' पहाड़ पर ले गये। उस समय वहाँ पर एक गुहा के अन्दर "श्यामा भैरवी माता" निवास कर रही थीं। दोनों युवक एक दिन मात्र वहाँ ठहरे थे। भैरवी माता ने दोनों की खूब खातिर की एवं भोजन का प्रबन्ध कर दिया। कुछ समय पश्चात् महापुरुष पुनः आ गये और उन्हें लेकर आगे बढ़े। वे लोग वहाँ से सन्ध्या समय बाद रवाना हुए। सवेरे जब आँखों से पट्टी खोली तो देखा कि वे एक अपूर्व स्थान में आ पहुँचे है। पूछने पर बतलाया गया कि उत्तरापथ के मध्य में यह एक प्रसिद्ध तथा अतिदुर्गम योगाश्रम है।

———

चतुर्थ परिच्छेद

नील मेघों के समान चारो ओर उत्तुंग पर्वतमाला शोभा दे रही है। बीच-बीच में झरने तथा पहाड़ी नदियाँ कल-कल निनाद करते हुए बह रही हैं।

मध्यस्थल में प्रायः सात आठ मील के घेरे में एक विराट आश्रम बसा हुआ है। आश्रम के चारो परकोट का वेष्टन है। उसके चारो तरफ जलपूर्ण खाँई खुदी हुई है। बाहर आनेजाने के लिए उस खाँई पर एक सुन्दर धनुषाकार पुल बना हुआ है। आश्रम का एक-एक स्तर सुसज्जित है। शिक्षाक्रम के हिसाब से प्रत्येक भाग सुन्दर सजाया हुआ है। आश्रम में योग और विज्ञान की शिक्षा की व्यवस्था अतिशय चमत्कारपूर्ण है। दीक्षा होने के बाद शिक्षा पाने के लिये आवश्यक ब्रह्मचर्य अवस्था का अधिकांश समय इसी जगह सबको बिताना पड़ता है। विज्ञान-विभाग स्वतन्त्र है। वह सम्पूर्ण रूप से एक पृथक आचार्य के अधीन है। उन आचार्य का नाम है 'श्री श्रीमत् श्यामानन्द परमहंस।' आश्रम के प्रमुख अधिष्ठाता हैं 'श्री श्रीमद् ज्ञानानन्द परमहंस।' यह स्थान अत्यन्त पुरातन है। कहा जाता है इसका प्राचीन नाम है 'इन्द्र भवन।'

लगभग पाँच सौ या छः सौ वर्ष हुए, इस प्राचीन स्थान का पुनरुद्धार करके पूजनीय श्रीयुत् ज्ञानानन्द स्वामी ने इसकी व्यवस्था तथा संरक्षण का भार ग्रहण किया। इस समय भी वही स्वयं इसके मुख्य अधिष्ठाता हैं। इस स्थान में बहुसंख्यक लोग निवास करते हैं। उनकी निम्नलिखित श्रेणियाँ उल्लेख करने योग्य हैं—

१—ब्रह्मचारी युवक।

२—कुमारी। वे भी ब्रह्मचारिणी हैं।

३—विज्ञान के शिक्षार्थी। इनमें से अधिकतर प्रथम श्रेणी तथा द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत हैं।

४—सिद्ध परमहंस। इस श्रेणी के जो महात्मा इस स्थान में हैं, उनकी संख्या भी बहुत ज्यादा है। इन सबकी उम्र इतनी लम्बी है कि साधारण लोगों के विश्वास में भी नहीं आ सकती। दो सौ तीन सौ वर्ष से लेकर हजार वर्ष से अधिक अवस्था वाले लोग भी यहाँ अभी वर्तमान हैं। सिद्धावस्था प्राप्त महापुरुषों में से कितने ही महात्मा निराहार रहते हैं। किन्तु जिन्होंने उतना उत्कर्ष-लाभ नहीं किया, वे थोड़ा सा कुछ भोजन ग्रहण कर लेते हैं।

उक्त ज्ञान-गञ्ज में भोलानाथ और हरिपद प्रायः नौ—दस दिन तक ठहरे थे। फिर उनको पूज्यपाद नीमानन्द स्वामी अपने गुरुदेव श्री श्रीमत् महातपा के पास ले गये और उनका परिचय करा दिया। ऐसा सुना है कि महातपा की अवस्था बारह सौ वर्ष से भी और ऊपर हो चुकी है। वे एक अत्यन्त शक्ति सम्पन्न महायोगी पुरुष हैं। वे साधारणतः उपरोक्त योगाश्रम में नहीं रहते। उनका कोई आश्रम नहीं है। तिब्बत में जिस स्थान में वे रहते हैं, वहाँ पर एक गुहा है उसके अन्दर श्री राजराजेश्वरी देवी की पाषाण—मूर्ति स्थापित है, इस लिए वह स्थान 'राजेश्वरी मठ' कहलाता है। वस्तुतः उस ठौर में घर-द्वार कुछ भी नहीं है। वहाँ पर जिनका निवास है, उनको घर-बार की कोई आवश्यकता ही नहीं है। महर्षि महातपा अधिकतर इसी स्थान में ठहरते हैं। कभी—कभी योगाश्रम में आते हैं। कभी-कभी अपनी गुरु-माता क्षेपा माई के पास मनोहर तीर्थ में भी हो आते हैं। इस हिमवत् प्रदेश में उक्त योगाश्रम जैसे और भी कई मठ हैं। वे सभी मठ राजराजेश्वरी के शासनाधीन हैं। महर्षि बहुत बातचीत नहीं करते। हमेशा ही अपने भाव में विलीन रहते हैं।

वाह्य जगत के समाचार से उनको कुछ मतलब नहीं। उनके प्रधान शिष्य श्री श्रीमद् भृगुराम परमहंसदेव ही सब मठों के प्रधान अधिष्ठाता

ओर कार्यकर्ता हैं। वे ही परिदर्शक, नियामक और परीक्षक अर्थात सब कुछ हैं।

ऊपर हमने परमहंस नीमानन्द, श्यामानन्द और ज्ञानानन्द की चर्चा की है। ये सब इन्हीं भृगुराम स्वामी के गुरु-भाई हैं। इनमें भृगुराम स्वामी योगैश्वर्य में एकमेवाद्वितीय हैं।

महर्षि महातपा ने शिरः स्पर्श पूर्वक शक्ति–संचार करके भोलानाथ को बीजमंत्र प्रदान किया। अर्थात् दीक्षा देकर अपना शिष्य बना लिया। आज भोलानाथ का जीवन सार्थक हो गया। पागल कुत्ते के काटने से एक दिन जिनके जीवन का अन्त हो जाने का समय आ गया था, आज उन्हीं के लिए भारत के एक अतिशय महान् सिद्ध महापुरुष के अनुग्रह से चिदानन्दमय अनन्त जीवन का द्वार खुल गया। अमरत्व का पथ प्रकाशमान हुआ, शाप वरदान में परिणत हो गया।

आज से भोलानाथ के नवजीवन का सूत्रपात हुआ। देह-वेध की क्रिया आरंभ हो गयी। प्राकृत जीवन ने अप्राकृत स्पर्शमणि के स्पर्श से काञ्चन आभा धारण की। इतने दिन तक जो युवक असाधारण होने पर भी साधारण श्रेणी में ही गिना जाता था, वही आज गुरुकृपा से वास्तव में असाधारणता को प्राप्त हुआ। आज अभिनव जीवन के सन्धि–क्षण में हम इन दिव्यधाम के यात्री को भक्तिपूर्वक प्रणाम करते हैं।

दीक्षा हो चुकने के पश्चात् शिक्षा प्राप्त करने के लिए कुछ दिन योगाश्रम में रहना पड़ता है। वहाँ की शिक्षा प्रणाली अति विचित्र है। परमहंस श्यामानन्द के पास भोलानाथ सूर्य विज्ञान की शिक्षा पाते थे और परमहंस भृगुराम स्वामी उनको योग की शिक्षा देते थे। दोनों शिक्षाएं बहुत दीर्घकाल तक लेनी पड़ती हैं। अनेक वर्ष पर्यन्त घोर परिश्रम, असीम धैर्य और अथक कर्तव्यपालन द्वारा भोलानाथ विज्ञान तथा योग उभय विद्याओं में पारंगत हो गये।

विज्ञान का नाम सुनकर कोई यह न समझ ले कि पाश्चात्य विज्ञान की भाँति यह विद्या भी जड़ विज्ञान की है। वस्तुतः जड़ कहने योग्य तो कोई पृथक् वस्तु है ही नहीं। जिसको हमलोग साधारणतया जड कहते हैं वह बिल्कुल जड़ नहीं है।

विज्ञान शब्द का अर्थ है "विशिष्ट ज्ञान" और इसी विज्ञान के विषय जड़ तथा चेतन दोनों ही हैं। सूर्य उक्त विज्ञान का केन्द्रस्वरूप और प्रधान आश्रय है। अतः इस विज्ञान को 'सूर्य-विज्ञान' भी कहा जाता है। शास्त्र में लिखा है कि एक ऐसा पदार्थ है, जिसका ज्ञान होने से सब विषयों का विज्ञान स्वतः अपने आप ही उपलब्ध हो जाता है। श्रुति का यह अनु- शासन ब्रम्हविज्ञान के सम्बन्ध में कहा गया है। किन्तु उस विज्ञान का क्या स्वरूप है, उसको किस प्रकार से कार्य रूप में प्राप्त किया जाता है इस बात का जिन्होंने विशेष रूप से अनुसन्धान किया है, वे जानते हैं कि सूर्य ही एक- मात्र सब विज्ञानों का मूलाधार है। सृष्टि, स्थिति, संहार अर्थात् जगत के समस्त व्यवहार सूर्य के अधीन हैं। इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति का प्रसार सूर्य से ही होता है। इतना ही नहीं, देवयान पथ का लक्ष्य-स्वरूप सूर्य ही है। उसको यदि मुक्ति का द्वार कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। विशुद्ध आत्मज्ञान अर्थात् स्वरूप उपलब्धि के लिए सौर तत्व का आश्रय ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक है अतएव योग का जो चरम उद्देश्य है, वही विज्ञान का भी है। सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करने पर जाना जाता है कि विज्ञान भी एक प्रकार का महायोग है, एवं जिसको हम लोग योग कहते हैं वह भी मूलतः विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। दोनों में केवल प्रणाली का भेद है। अतएव साधक के पक्ष में दोनों ही समानरूप से आवश्यक हैं। योगपथ में विज्ञान और विज्ञान-पथ में योग परम सहायक है।

सूर्य-विज्ञान आयत्त होने पर अन्यान्य विज्ञान, जो कि उसी के अंग हैं, सहज में ही आयत्त हो जाते हैं। जिस प्रकार योग-शास्त्र में सर्व-ज्ञातृत्व एवं सर्व भावाधिष्ठातृत्व नामक विशिष्ट सिद्धि को खण्ड-सिद्धि का चरम

उत्कर्ष माना जाता है, उसी प्रकार विज्ञान–राज्य में सूर्यविज्ञान को प्रमुख माना गया है। चन्द्र–विज्ञान, नक्षत्र–विज्ञान, वायु-विज्ञान, स्वर-विज्ञान, क्षेत्र विज्ञान प्रभृति सौर-विज्ञान के अन्तर्गत खण्ड-विज्ञान विशेष मात्र हैं।

भोलानाथ ने अपने अनन्य-साधारण प्रतिभा-बल से योग और विज्ञान दोनों क्षेत्रों में बराबर प्रवीणता प्राप्त कर ली। इस प्रकार का मणि-कांचन योग कहीं देखने में नहीं आता। प्राचीन ऋषियों में शिक्षा का जो समुत्कर्ष था, उसे इन्होंने गुरु की कृपा तथा अपने अध्यवसाय के जोर से ठीक उपार्जन कर लिया। उसी के द्वारा वे जगत, जगदीश्वर एवं अनादि महाशक्ति का रहस्य प्रत्यक्ष करने में समर्थ हुए हैं। प्राकृतिक शक्तिमाला को अपनी इच्छा के वशवर्ती करने का अधिकार उन्होंने प्राप्त किया है।

लक्ष्य और अपने बीच में किसी प्रकार का आवरण रहने नहीं दिया केवल शास्त्र–वाक्य के श्रवण मात्र से धर्मजीवन प्राप्त नहीं होता। शास्त्र वाक्य आर्ष है और एक प्रकार से भ्रांति रहित है फिर भी वह पूर्ण-ज्ञान प्रसव करने में समर्थ नहीं है। खाली वाक्य द्वारा वस्तु–विषयक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता और बिना प्रत्यक्ष हुए आवरण भी नहीं हटता। गुरु-उपदेश का अवलम्बन करके धैर्य, श्रद्धा, संयम और अध्यवसाय के साथ अक्लान्त भाव से कठोर तपस्या कर भोलानाथ ने जिस गम्भीर सत्य को हृदय के अन्तर्देश में उपलब्ध किया है एवं जिस संशयरहित परिपूर्ण विज्ञान तत्व को आयत्त किया है, वह केवल पोथी पढ़ने से कभी प्राप्त नहीं हो सकता।

उन्होंने बारह वर्ष पर्यन्त ब्रम्हचर्य पालन कर बड़े कठिन परिश्रम से साधना की थी। शिक्षा प्राप्ति के लिए बहुत काल तक हिमालय में रहकर अभ्यास के लिए अनेक स्थानों में पर्यटन किया। एक–एक स्थान में दीर्घ समय तक टिके रहकर तपस्या की थी। किसी जगह कोई संगी–साथी होता; तो कहीं-कहीं कोई भी नहीं रहता था। कभी–कभी उन्हें फल–मूल खाकर रहना पड़ता था। और कभी–कभी वे भी नहीं जुटते थे; ऐसी दशा में कई दिन बिना आहार के ही बीतते थे। निबिड़ वन में, गिरि-गुहा में, सर्दी

गर्मी सहते हुए, हिंसक पशुओं के विचरने के स्थानों में निज प्राण हथेली में लेकर निवास करना पड़ता था। कहीं यदि मनुष्यों के गाँव-घर पास में पड़ते तो वहाँ से भिक्षा संग्रह कर लाने का आदेश था किन्तु भिक्षा के लिए याचना करते फिरने का नियम कदापि नहीं था। गृहस्थ के द्वार पर पहुंचकर खड़े होने पर भिक्षा-पात्र देखकर यदि कोई स्वयं कुछ देता तो बहुत ठीक। फिर अन्यत्र जाने का कोई प्रयोजन नहीं था। भिक्षा चाहे अल्प, चाहे अधिक जो कुछ भी मिल जाती, उतने में ही सन्तुष्ट रहना पड़ता था। परन्तु जब बिल्कुल कुछ भी नहीं मिलता था, तब आगे दूसरे घर पर जा सकते थे। यदि उस द्वार पर भी कुछ न मिलता तो तीसरे घर के दरवाजे तक पहुंचने की अनुमति थी। परन्तु वहाँ यदि कुछ न पाया जाता, तो आगे के लिए पुनः चेष्टा करना मना था। फिर उस दिन निराहार ही रहना होता था।

यह सबकुछ था केवल भगवान पर निर्भर रह सकने की शिक्षा के उद्देश्य से। अहंकारवश हम लोग मान लेते हैं कि हम ही हैं कर्ता-धर्ता। मानों हमारी व्यक्तिगत चेष्टा से ही सब कुछ हो जाता है। परन्तु यह है भ्रान्त धारणा।

जो विराट शक्ति जगत के अन्तर में रहकर अनन्य भाव से समग्र जगत का संचालन करती है, जिसके नियन्त्रण से चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, वायु, वरुण प्रभृति यावतीय पदार्थ अपने-अपने निर्दिष्ट कर्म यथानियम करते रहते हैं और तिल मात्र भी कर्तव्यच्युत नहीं हो सकते, जिसके मंगलमय विधान से सन्तानप्रसव के पूर्व ही उसके आहार के लिए माता के स्तनों में अमृतधारा की व्यवस्था हो जाती है, उसी विश्वजननी आनन्दमयी महाशक्ति पर यदि निर्भर रह सके तो जीव को फिर चिन्ता ही किस बात की। जिस समय सुख-दुःख में, उत्थान-पतन में, बाहर-भीतर, सोते जागते सभी अवस्थाओं में एकमात्र उनकी ही मंगलमय सत्ता का साक्षात्कार होने लगता है, उस समय क्षुद्र अहंकार न जाने कहाँ विलीन हो जाता है। सूर्योदय होने पर जिस प्रकार नक्षत्र पंक्ति, अदृश्य हो जाती है, उसी प्रकार फिर अहंकार का पता ही

नहीं रह जाता। ब्रम्हचर्य अवस्था में जीवन इस प्रकार नियमित करना होता है, जिससे कि साधक के अहंकार का दमन होकर प्रकृत निर्भर-शीलता की उपलब्धि हो सके। जो साधक निर्भरशील हो जाता है, उसे कोई भय या उद्वेग नहीं हो पाता। उसका योग—क्षेम फिर स्वयं भगवान ही वहन करते रहते हैं। ब्रम्हचारी भोलानाथ के जीवन में ऐसी घटना कितनी बार घटित हुई जिसकी कोई गिनती नहीं।

हमने स्वयं उनके श्रीमुख से सुना है कि जब वे गिरनार में निवास करते थे, उनको तीन दिन निराहार रहना पड़ा था। निकट में कहीं कोई बस्ती न होने से भिक्षा संग्रह करने का भी कोई उपाय नहीं था। ब्रम्हचारी के लिए देह की रक्षा के हेतु बहुत उत्कट पुरुषार्थ में प्रवृत्त होने का निषेध है। अतएव दूर से भिक्षा माँग ला कर आहार प्राप्ति की चेष्टा न कर वे अपने इष्ट मंत्र का स्मरण करते-करते एक गुहा के अन्दर जाकर लेट गये। मन में लगने लगा कि अब इस बार के निराहार से देहपात अवश्यम्भावी है। क्यों कर किसी पथिक के उधर अकस्मात् आ निकलने की कोई सम्भावना नहीं थी। पथ-हीन भयावह निर्जन भूमि थी और वहाँ पर चारो ओर हिंसक जन्तु निरन्तर चलते फिरते रहते थे। यदि कोई भूला भटका मनुष्य कभी कारणवश उधर आ भी गया तो उससे भिक्षा मिलने की आशा व्यर्थ। भोलानाथ आँखें मूँदकर गुरु—दत्त इष्ट नाम का ध्यान करने लगे। इसी तरह ध्यान में कुछ समय बीतने पर उनके समस्त शरीर में तन्द्रा व्यापने लगी। जब थोड़ी देर बाद तन्द्रा से जागकर उटे तो चारों ओर जो दृश्य देखा उससे आश्चर्य की सीमा न रही। देखते क्या हैं कि उनके सम्मुख दस पन्द्रह मिट्टी के पात्र नाना प्रकार की खाने पीने की स्वादिष्ट सामग्री से भरे, सजाये रखे हैं। औटाया दूध, लावे के लड्डू, चिवड़ा, नानाविध मिष्टान्न और फल सुपेय शरबत ये सब देखकर जगदम्बा की असीम कृपा का स्मरण करते करते उनके आँखों से आँसू बरसने लगे। तीन दिन निराहार पड़े रहे, इस बात का पता इस जगत के किसी भी व्यक्ति को नहीं था और न इसकी कोई

सम्भावना ही थी। इस भयानक अरण्य के बीच में, एकान्त गुहा के भीतरी भाग में ठीक उन्हीं के सामने ये सब खाने–पीने के पदार्थ कौन रख गया ? खाद्य वस्तुओं में से अधिकतर बंग देश की सुपरिचित भोज्य चीजें थी। वे सब इधर इतनी दूर पश्चिम प्रदेश में किसने पहुँचायी ? यह तो स्नेहमयी विश्वजननी के स्नेह का ही निदर्शन है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव करके भोलानाथ प्रेम एवं आनन्द से गद्गद हो गये। इस प्रकार की घटनाएँ उनके जीवन में अनेक बार हो चुकी हैं।

-o * o—

पञ्चम परिच्छेद

ब्रम्हचर्य अवस्था से उत्तीर्ण होकर मठ के नियमानुसार भोलान ने दण्ड ग्रहण किया और 'दण्डी' हुए।

चार वर्ष तक विधिपूर्वक दण्ड धारण कर उसका परित्याग कि और संन्यास ग्रहण किया। संन्यास अवस्था में वे लगभग चार वर्ष तक र इन आठ वर्षों में उन्होंने भारत वर्ष के बहुत से तीर्थस्थानों में भ्रमण कि और नाना प्रकार का लौकिक ज्ञान प्राप्त किया। तपस्या की तो बात क्या कही जाय उनका सम्पूर्ण जीवन ही उत्कट तपस्या का उज्ज्वल निद है। जिन समस्त लोकोत्तर विभूतियों से उन्होंने आजकल सब लोगों चकित एवं स्तम्भित कर दिया है और उनके सामने स्थूल तत्व से अतीत विराट शक्ति सत्ता का प्रतिपादन किया है, उन सब सिद्धियों का स्फुरण उ तभी से होना आरंभ हो चुका था, जबकि वे ब्रम्हचर्य अवस्था से उत्तीर्ण चुके थे। दण्डी और संन्यासी अवस्था में उन सिद्धियों का विशेष रूप विकास हुआ।

योग विभूति संबन्ध में भिन्न-भिन्न लोगों की भिन्न-भिन्न धारणाएं है इस विषय का विशेष विवेचन यथास्थान में विस्तारपूर्वक किया जायेगा यहां प्रसंग वश एक-दो बातें ही कहनी हैं।

आत्मज्ञान का उन्मेष न हो तो योगविभूति प्रकाशित नहीं हो पाती भगवान शंकराचार्य ने अपने सुप्रसिद्ध दक्षिणामूति-स्तोत्र में 'सर्वात्म भाव' महा-विभूति कहकर वर्णन किया है। सुरेश्वराचार्य ने अपने वार्तिक स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन किया है कि—पुरुष धावमान होने पर जैसे उस छाया उसके पीछे-पीछे भागती है, उसी प्रकार आत्मा वा ईश्वर का स्व उपलब्ध होने पर ऐश्वर्य का प्रकाश अपने आप प्रारम्भ हो जाता है। आत

से भिन्न ऐश्वर्य की सत्ता नहीं है। ब्रम्हचर्य अवस्था में बिन्दु का शोधन होता है और स्थिरता का सम्पादन होता है। वही है जीव-देह का सत्व। उसके शुद्ध और स्थिर होने पर अर्थात् साधन—बल से देह शुद्ध होने पर भूत-शुद्धि तथा चित्त शुद्धि पर अधिकार हो जाता है। उस समय फिर सब प्रकार की सिद्धियाँ अपने आप ही उपस्थित हो जाती हैं। उनके लिए अलग से चेष्टा नहीं करनी पड़तीं।

इसी विशुद्ध अवस्था में भोलानाथ ने योगी—जन—वांछित अत्यन्त दुर्लभ एवं दुष्कर "नाभि—धौति क्रिया" प्राप्त कर ली थी। अति दीर्घकाल तपस्या करके और कठोर नियम पालन करके बहुत प्रकार से क्षमता सम्पन्न हो चुकने पर भी बहुतों को यह अति-दुर्लभ "नाभि—धौति क्रिया" सिद्ध नही होती। इसी से जाना जा सकता है कि प्रकृत योग मार्ग में इस क्रिया का कितना बड़ा ऊँचा स्थान हैं। कहा जा सकता है कि एक प्रकार से योग की यही अन्तिम क्रिया है। ऐसा सुना है कि एक दिन उन्होंने नाभि—धौति और किरात—धौति सीखने की इच्छा प्रकट की। किन्तु वह तो गुरु से सीखी जाती है। केवल अपनी चेष्टा से अथवा बहुत थोड़े ही समय में कोई उसे नहीं सीख सकता। उन्होंने नाभि धौति—क्रिया सीखने की इच्छा प्रदर्शित की है ऐसा जब सुना, तो योगाश्रम में रहने वाले एक योगी ने उनसे कहा— "भोलानाथ! तुम वामन होकर चन्द्रमा पकड़ता चाहते हो।" हम बहुत दीर्घ काल से सौ वर्ष से अधिक हुए, कठोर परिश्रम कर रहे हैं, तो भी इस क्रिया—रत्न को नहीं पा सके और तुम बालक होते हुए भी उसको प्राप्त करने की इच्छा दिखाते हो? तुम्हारी घृष्टता कुछ कम नहीं है। भोलानाथ ने उत्तर दिया—"आप जो कुछ कह रहे हैं, वह सच है। किन्तु जगत में क्या ऐसे शक्तिशाली पुरुष नहीं है कि जो अपने क्षमता—बल से मुझे मेरी इस छोटी अवस्था में ही शिक्षा देकर तदनुरूप योग्यता उत्पन्न करा दे सकते हैं।" यह सुनकर योगिवर उनका नाना भाँति उपहास करने लगे। तब भोलानाथ बोले—"आपकी धारणा सत्य नहीं है। मेरे हृदय में दृढ़ विश्वास है कि

दादा गुरुदेव (अर्थात् भृगुराम परमहंस महाशय) जब इच्छा करेंगे अवश्य मुझे "नाभि धौति" स्वायत्त करा देंगे।" उक्त योगिवर एक जन अत्यन्त दीर्घजीवी, प्रतिष्ठा सम्पन्न और क्षमतावान पुरुष थे; और फिर एक बड़े मठ के अध्यक्ष भी थे। इस लिए एक अल्पवयस्क युवक का उनकी बात को काटने की हिम्मत करना उन्हें सहन नहीं हुआ। उन्होंने भोलानाथ को चिढ़ा कर दण्ड देने का भय दिखाया। भोलानाथ के हृदय को कड़ी चोट लगी और वे रोने लगे। ठीक उसी समय स्वयं श्रीयुत भृगुराम स्वामी[1] आकाश मार्ग से आकर उपस्थित हो गये। भोलानाथ को वे प्राण से भी अधिक प्यार करते थे। भोलानाथ को मर्म पीड़ित देखकर उन्होंने उन्हें सान्त्वना दी; और उक्त योगिवर के प्रति कुछ उग्र-भाव धारण करके उनके अन्याय पूर्ण व्यवहार के लिए तीव्र दण्ड की व्यवस्था की और उसी मुहूर्त में भोलानाथ को स्वयं "नाभि-धौति क्रिया" की शिक्षा दी।

शत-शत वर्ष दुष्कर तपस्या और कठिन नियम पालन करने पर भी जिस क्रिया का अधिकार प्राप्त नहीं होता आज उसी क्रिया को एक निमेष में अपनी इच्छा-शक्ति के प्रभाव से एक नवयुवक को उन्होंने दे दिया। शक्तिशाली योगी की क्षमता की सीमा नहीं है। तब से कुछ दिन तक नियमित रूप से अभ्यास करते हुए भोलानाथ ने नाभि धौति की क्रिया में पूर्णता प्राप्त कर ली।

"किरात धौति" नाभि धौति की ही उन्नत अवस्था विशेष है। एक मखमल का या कोई अन्य शुद्ध वस्त्र का पचीस-तीस हाथ लम्बा टुकड़ा

१—पूज्यपाद श्रीयुत् भृगुराम परमहंस देव आकाश मार्ग से ही हमेशा आते जाते हैं। वे कभी भी भूमि का स्पर्श नहीं करते। स्थूल देह समेत सूक्ष्म लोक में गमन करने की क्षमता वर्तमान युग में एकमात्र उन्हीं में है, ऐसा सुना जाता है। कहना न होगा कि उनका स्थूल देह हम लोगों के शरीर जैसा पञ्चभौतिक तथा षट्-कोशात्मक देह नहीं है, वह सिद्ध देह।

नाभि से मुखपर्यंन्त यथाविधि अनुलोम तथा विलोम प्रणाली से शरीर के भीतर बार-बार चलाया जाता है। इस धौति-कार्य का जबतक भली-भाँति अभ्यास नहीं हो जाता, तब तक "चात्वर" वा आकाश-गमन की पूरी शक्ति प्राप्त नहीं होती। दीर्घकाल तक प्रयत्न करने पर प्रचलित 'कुम्भक' के द्वारा भी शून्य में ऊपर उठा जा सकता है, किन्तु उत्थित अवस्था में बातचीत नहीं की जा सकती। यहाँ तक कि कोई-कोई तो भूमि से ऊपर उठने पर बाह्यज्ञान-शून्य हो जाते हैं। इसके अलावा ऊपर हवा में चलते समय कभी-कभी प्रतिकूल वायु प्रवाह के धक्के से नीचे गिर पड़ने का भी डर रहता है।

"नाभि-धौति" क्रिया में परिपक्वता प्राप्त कर चुकने पर देह शून्य[1] मय हो जाती है। समस्त देह को संकुचित या प्रसारित कर सकने की शक्ति का विकास हो जाता है। तब एक लोम-कूप के द्वार से किसी अति वृहत् पदार्थ को भी शरीर के अन्दर प्रवेश करा सकते हैं। शरीर के किसी भी अंग या भाग को स्वेच्छानुसार[2] छोटा या बड़ा बनाया जा सकता है।

१—इसीलिए 'अमनस्क' 'योग-बीज' प्रभृति योग-शास्त्र के ग्रंथों में 'योग देह' को 'आकाश देह' कहकर वर्णन किया गया है।

२—स्वेच्छानुसार देह को संकुचित और प्रसारित करते बनने पर अणिमा महिमा आदि सिद्धियाँ सहज सुलभ हो जाती हैं। पूज्यपाद बाबा के देह में प्रायः तीन-चार सौ स्फटिक-गोलक (Crystal balls) छिपे हुए हैं। मस्तक के अन्दर वाणलिंग, शालिग्राम, स्फटिक माला आदि यथा स्थान सजाये हुए रखे हैं। प्रयोजन होने पर उनको बाहर निकाल लेते हैं और फिर से भीतर रख लेते हैं। उन्हें यह करते हुए बहुत लोगों ने प्रत्यक्ष देखा है। जप की माला शिर के अन्दर रखने की बात शास्त्रों द्वारा बहुत से लोगों ने सुन रखी है परन्तु प्रत्यक्ष देखने का प्रसंग बहुत कम लोगों को पड़ा है। बड़े-बड़े स्फटिक-गोलक रोम छिद्रों में से देह के भीतर प्रविष्ट कराते हुए और बाहर निकालते हुए उन्हें हमने अनेक बार स्वयं देखा है। शरीर के एक भाग में प्रविष्ट कर भीतर ही भीतर देह

"किरात–धौति" के द्वारा देह शुद्ध करके फिर चाहे जिस किसी प्र में वायु पूर्ण भर रख सकने की क्रिया का नाम "किरात कुम्भक" है। इ कुम्भक के बल से शून्य में ऊपर उठने पर बातचीत करने में कोई भ बाधा नहीं पड़ती। यहाँ तक कि भाषण करते करते ही साथ साथ ऊपर उ सकते हैं। बाह्यज्ञान बना रहता है तथापि बाह्य विषयों से निर्लिप्तता प्राप्त हो जाती है। नासिकादि द्वारा वायु ग्रहण करने की क्रिया में यह सब कुछ साधारणतया नहीं होता। 'परकाया प्रवेश' के लिए भी साधारण कुम्भक की अपेक्षा 'किरात-कुम्भक' अधिक उपयोगी है। 'किरात-कुम्भक' के द्वारा शरीर के भीतर जब विशुद्ध वायु भर ली जाती है तब किसी भी बाहरी आक्रमण से वह कदापि अभिभूत नहीं हो सकता। अत्यन्त बलवान और शक्तिशाली तेजो-राशि के दर्शन और संस्पर्श से भी 'किरात कुम्भक' की अवस्था में बाह चेतना कदापि लुप्त नहीं होती।

जब भोलानाथ देश–देशान्तर में भ्रमण करते थे, तब कभी-कभी वर्धमान में आकर अपनी जननी के साथ भेंट करके पुनः चले जाते थे। इ प्रकार का मातृ-भक्त और एकनिष्ठ मातृसेवक देखने में नहीं आया। जिस बा से माता के मन को दुःख होने की तनिक सी भी सम्भावना हो ऐसा काम कभी करते ही नहीं थे।

के दूसरे भाग में ले जाते देखा है। कभी–कभी संकोच प्रसार से एक द स्फटिक अपने आप ही देह से बाहर छिटक पड़ते थे। देह से निकले हु स्फटिक आदिकों में अति उग्र तथा विशुद्ध पद्म-गन्ध बहुत देरतक पा जाती थी। तीव्र रूप से योग क्रिया करने पर देह के भीतर भयानक ता और अति उग्र तड़ित-शक्ति का विकास होता है। उसे शांत रखकर शरी का साम्य सन्तुलित रखने को देह के स्तर-स्तर में स्फटिक के शीत-स्प गोलक सजाकर रखे जाते हैं। किरात-योग का अभ्यास किये बिना य सब कुछ बन नहीं सकता। इस विषय में हमने जो कुछ स्वयं समझा त पूज्य बाबा के पास प्रत्यक्ष देखा, उन सबका वर्णन अगले भाग विस्तार से करेंगे। यहाँ पर इन बातों की आलोचना अनावश्यक है।

भोलानाथ के बड़े भाई भूतनाथ चट्टोपाध्याय वर्धमान में रहकर डाक्टरी का व्यवसाय किया करते थे। वे भोलानाथ को बहुत ही प्यार करते थे।

यद्यपि भोलानाथ अवस्था में उनसे छोटे थे तथापि भोलानाथ की अलौकिक तपः शक्ति से प्रभावित होने के कारण वे भोलानाथ के प्रति विशेष भक्ति-भाव रखते थे। भोलानाथ भी अपने उन ज्येष्ठ भ्राता का यथेष्ट सम्मान करने में कभी चूकते नहीं थे। एकबार भूतनाथ बाबू अपने छोटे भाई से बड़े आग्रह के साथ कहने लगे—"भोलानाथ! मैंने सुना है कि तुमने साधना-बल से असाधारण शक्ति प्राप्त कर ली है। मेरी बहुत दिनों की एक इच्छा अपूर्ण रह गयी है। यदि तुम अपनी तपस्या के बल से मेरी वह आकांक्षा पूरी कर सको तो मैं अपना जीवन धन्य समझूँगा। मेरा और कोई दूसरा अनुरोध नहीं है; मेरी एकमात्र इच्छा यह है कि मैं स्वर्गीय पितृदेव का फिर से दर्शन करूँ। सुनता हूँ जीव नित्य है, आत्मा अविनाशी है; परि–वर्तन जो कुछ भी घटित होता है, वह केवल रूप का। किन्तु योगी योगबल से भूतकाल के तथा भविष्यत के रूप को भी सामने प्रकट करके दिखा सकते हैं। मुझे विश्वास है कि तुम इच्छा करोगे तो मेरी यह साध पूरी कर सकोगे।" भोलानाथ बोले—"दादा! आप जो कह रहे हैं, वह सत्य है। ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो कि योगबल से अथवा विज्ञानबल से सम्भव न हो। कुरुक्षेत्र के युद्ध के पश्चात् शोकातुर गान्धारी को व्यासदेव ने परलोक गत आत्मीय स्वजनों के दर्शन कराये थे। प्रत्येक योगी केवल इच्छामात्र करने से यह सब कुछ दिखा सकता है। उसी प्रकार जो कोई विज्ञानवेत्ता है जो कि प्रकृति के रहस्य भेद करने में समर्थ है, वह विज्ञानबल से यह कार्य कर सकता है। किन्तु दादा! देखने मात्र से क्या लाभ होगा? समझ लीजिए कि अमर तो सभी हैं, मृत्यु तो केवल वेश–परिवर्तन मात्र है। जिस रूप को एकबार इस जगत में देख चुके हैं, उसके मरने के पश्चात् यदि आप वही रूप पुनरपि क्षण भर के लिए भी देख पायेंगे, तो उस समय आप धैर्य

नहीं रख सकेंगे। इससे अच्छा तो यह है कि जो कुछ मंगलमय के मंगलविधा
से एकबार घट चुका है, उसे नतमस्तक होकर स्वीकार कर लें। बहुत अप्रिय
न हो।" परन्तु भूतनाथ बाबू ने इस बात को नहीं माना। उन्होंने बारम्बार
आग्रह किया। भोलानाथ को मालूम था कि परलोकगत अपने किसी प्रि
जन को यदि कोई देख ले तो आत्मसंयम के अभाव में तत्क्षण उन्मत्त
हो उठेगा। इसीलिए उन्होने नम्रता के साथ प्रतिवाद करने की चेष्टा की।
किन्तु जब देखा कि दादा किसी प्रकार अपना आग्रह छोड़ने को राजी नहीं
हैं, तब अन्त में भोलानाथ को उनकी बात माननी पड़ी। तब उनके आदेशा-
नुसार एक घर सुसज्जित किया गया। वहाँ पर एक शय्या बिछायी गयी।
ठीक समय पर स्वर्गीय पितृदेव की मूर्ति उसी रूप में जैसे कि पहले से परि-
चित थी, उस शय्या पर आ गयी। और जो प्रश्न किये गये, उनके उचित
उत्तर भी दिये।

लगभग पन्द्रह मिनट तक मूर्ति ठहरी थी। फिर वह अदृश्य हो गयी।
भूतनाथ बाबू ने जब अकस्मात् इस प्रकार पितृदेव का दर्शन किया, तब
अतिशय आश्चर्यचकित हुए, साथ–साथ उनके मन पर विशेष रूप से धक्का
लगा था।

ऐसे ही एक बार और भी वे घूमते-घूमते वर्धमान पहुंचे। देखा कि
भूतनाथ बाबू सांघातिक रोग से पीड़ित हैं। नाना प्रकार के औषधोपचार से
भी कोई लाभ नहीं हो रहा। भोलानाथ ने अपने असाधारण तपोबल से बड़े
भाई साहब को तुरन्त रोगमुक्त कर दिया और जब वे जाने लगे तो उन्हें एक
कवच दे गये थे। तदर्थ भूतनाथ बाबू को प्याज और अण्डे खाने का निषेध
कर गये थे। इस संबंध में अपनी भाभी को भी विशेष रूप से सावधान कर
गयें थे। किन्तु भूतनाथ बाबू ऐसे व्यक्ति थे कि किसी नियम का लगातार
पालन करना उनके लिए कठिन था। जब नियम भंग कर डाला, दुर्दैव यों
से उनपर फिर से भाँति–भाँति के रोगों का आक्रमण होने लगा। इस बार
उनकी दशा इतनी शोचनीय हो गयी कि पुत्र का घोर कष्ट देखकर के उनकी

माता को स्वयं प्राणान्तिक वेदना का अनुभव होने लगा। भोलानाथ उस संकटकाल में किसी अति दूर देश की यात्रा में थे। किन्तु वे चाहे कितनी ही दूर क्यों न हों, दैशिक व्यवधान से क्या जबकि भीतर प्राण के साथ प्राण का अतिनिकट घनिष्ट योग-सूत्र काम कर रहा है। अपनी माता की हृदय वेदना को अन्तर्दर्शी महापुरुष ने अतिशय दूरी होते हुए भी प्राण के सम्बन्ध से तुरन्त ही प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया। विद्युतवेग से वे बण्डुल ग्राम में आ उपस्थित हुए एवं अपनी माँ से स्पष्ट शब्दों में बोले—"माँ! दादा अबकी बार बच नहीं सकेंगे। उनका इस जीवन का अन्तिम समय समीप आ गया है।" ऐसा कह कर उन्होंने उनकी मृत्यु का दिन, तारीख और समय ठीक-ठीक बतला दिया। कहने की आवश्यकता नहीं है कि जो मुहूर्त वे बतला गये थे, भूतनाथ बाबू की इस जन्म की मानवलीला उसी अचूक समय पर समाप्त हुई। जननी पुत्र-शोक से व्याकुल हो गयीं। जो माँ को प्राण से भी अधिक चाहते थे, उन भोलानाथ ने माता का अंग छूकर उनका शोक दूर किया और नाना प्रकार के अलौकिक, दिव्य दर्शन उनको प्रत्यक्ष दिखाये। इस प्रकार माता को धैर्य प्रदान करके दो-तीन दिन बाद वे पुनः चले गये।

जब भूतनाथ बाबू की कन्या का विवाह हुआ, भोलानाथ ने तत्संबंधी अपना कोई भी मत प्रकाशित नहीं किया था।

आत्मीय स्वजनों ने सब प्रकार से व्यवस्था करा कर विवाह कार्य सम्पन्न करा दिया। तब आगे चलकर यथा-प्रसंग भोलानाथ ने अपनी माता के पास भविष्य में होने वाली घटना का चित्र स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया। उन्होंने कह दिया—"विवाह के कुछ दिन पश्चात ही वैधव्य अवश्यम्भावी है।" ठीक वही घटित हुआ।

—०*०—

षष्ठ परिच्छेद

संन्यास आश्रम की अवस्था पार कर चुकने पर परमाराध्य गुरु देव के आदेश से भोलानाथ चिकित्सा-व्यवसाय करने के लिए उद्यत हुए। वे अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न नवयुवक थे। बंगला भाषा में प्रकाशित जितने भी चिकित्साशास्त्र के ग्रन्थ थे, अल्प समय के भीतर ही उन्होंने अच्छी तरह पढ़ डाले और चिकित्सा का उत्तम ज्ञान प्राप्त कर लिया। कठोर साधना करके जिन्होंने समस्त दुर्लभ सिद्धियाँ हस्तगत कर ली थी, मनोवृत्तियों के उदय, अस्त तथा हेतु जिन्होने सम्पूर्ण रूप से जानकर उन्हें अपने वश में कर लिया था, उनके लिए नये शास्त्र का अध्ययन कर उसके मर्म को शीघ्र से शीघ्र ग्रहण कर लेने में कोई आश्चर्य की बात न थी। गुरुदेव के अनुग्रह से अपनी प्रतिभा के विकास से, यथोचित पुरुषार्थ के प्रभाव से चिकित्सा विज्ञान उन्होंने सहज में ही भलीभाँति सीख लिया।

वर्धमान जिले के अन्दर गुष्करा नाम का एक ग्राम है। ग्राम कोई बहुत बड़ा नहीं। ईस्ट इण्डियन रेलवे की लूप लाइन इस गाँव से होकर जाती है। लाइन के ऊपर ठीक गुष्करा नाम का स्टेशन भी है।

इस ग्राम में चोंगदार वंश के एक समृद्धशाली एवं प्रसिद्ध जमींदार रहते थे। इस परिवार के हरिश्चन्द्र चोंगदार महाशय कितने प्रतापशाली पुरुष थे, इस बात को उस समय आसपास के सभी लोग जानते थे। भोलानाथ चिकित्सा व्यवसाय के लिए गुष्करा गाँव में पहुंचे और उक्त चोंगदार महाशय के जमींदारी वाले दफ्तर में अपने रहने की व्यवस्था की। चोंगदार परिवार और बंडुल के चट्टोपाध्याय वंश में परस्पर बहुत पहले से ही घना परिचय था। भोलानाथ दीर्घकाल तक इस ग्राम में ठहरे थे। वहाँ पर लोगों के समक्ष रहते हुए भी अत्यंत प्रच्छन्न भाव से निष्ठा, नियम, सदाचार

संयम का पालन करते रहे एवम् ब्राह्मण भाव की पूरी रक्षा करते हुए तपस्वी का जीवन विताते रहे। उनको कोई सहज में ही समझ नहीं पाता था, सहसा जिस किसी के पकड़ में नहीं आते थे। उनको हमेशा अपने आपको छिपाये रखना पसन्द था। तथापि जिस प्रकार कमल में मधु-संचय होने पर मधुकर को बुलाना नहीं पड़ता वह अपने आप ही आ पहुंचता है और गुञ्जन ध्वनि से मानों कमल का गुणगायन करता हुआ उसके चारों ओर भ्रमण करने लगता है, उसी प्रकार सहस्र प्रकार से अपने को छिपाने की चेष्टा करने पर भी भोलानाथ की कीर्ति मधुगन्ध चारो ओर फैलने लगी और जनता उनकी ओर आकर्षित होकर दौड़ने लगी। दूर-दूर से असंख्य लोग उनके दर्शन करने तथा उनकी कृपा पाने के लिए उनके पास आकर उनको घेरने लगे। उनकी अलौकिक सिद्धियों की चमत्कार वार्ता देश-विदेशों में प्रशंसा वेग से फैलने लगी।

वे चिकित्सा कार्य करते थे, इसलिए उन्हें गुष्करा में लोग "डाक्टर बाबू" के नाम से विख्यात किये हुए थे। यद्यपि वे पाश्चात्य प्रणाली से ही औषधोपचार करते थे, तथापि उनकी अपनी कुछ विशेषता थी। सर्वप्रथम वे योग-ज्योतिष के द्वारा रोग का आदि से अन्त तक का सारा हाल जान लेते थे। यदि वे जान जाते कि रोगी असाध्य है अर्थात् मृत्यु अवश्यंभावी है, तब तो वे उस रोगी की चिकित्सा का भार स्वयं ग्रहण ही नहीं करते थे, जिस रोगी की चिकित्सा वे स्वीकार कर लेते थे, वह अवश्य ही उनके औषधोपचार से अच्छा हो जाता था। किन्तु किसकी चिकित्सा करने को वे राजी नहीं होते थे, वह रोगी निश्चय ही समझ जाता था कि उसका रोग अब दूर नहीं हो सकता। यही कारण है कि उनके हाथ में पड़े हुए किसी भी रोगी की मृत्यु नहीं होती थी।

कुछ दिन तक इस प्रकार चिकित्सा करने में उनकी कीर्ति इतनी दूर तक फैल गयी कि बहुत दूर देशों के नाना प्रकार के रोगी उनके पास निरन्तर आकर इकट्ठे होने लगे। इससे उनकी आर्थिक आय भी कोई कम नहीं होती थी। वे दीन दरिद्र के लिए सच्चे दयामय बन्धु थे। निर्धन रोगियों को वे

स्वयं उनके घर जाकर देख आते थे, उनसे कोई भेंट नहीं लेते थे। अवस्था के अनुसार कहीं-कहीं वे स्वयं अपने हाथ से रोगी की शुश्रूषा करते थे और खुशी के साथ अपनी तरफ से निज खर्च से रोगी के औषधोपचार एवं पथ्य का प्रबन्ध कर दिया करते थे।

योग-ज्योतिष और देव-ज्योतिष में उन्हें असाधारण योग्यता प्राप्त थी। योग ज्योतिष के द्वारा जन्म कुण्डली बनाना तथा भविष्य बताना इस कार्य में उन्हें प्रतिमास बहुत कुछ अर्थोपार्जन हो जाता था।

प्रचलित ज्योतिष की अपेक्षा योग-ज्योतिष बहुत विलक्षण विद्या है। प्रचलित ज्योतिष-गणना अनेक कारणों से; भ्रान्तिरहित नही हो पाती। सूक्ष्म गणना भी अब नहीं सी हो गई है। किन्तु योग-ज्योतिष का स्वरूप ऐसा नहीं है। उसमें भूल होने की कोई सम्भावना नहीं है। योगज्योतिष में यथेष्ट रूप से इतना सूक्ष्म से सूक्ष्म गणित किया जा सकता है कि जिसकी साधारण-तया कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। योगक्रिया में विशिष्ट लाभ उत्कर्ष होने पर साधक को अनेकानेक तत्वों का सहज स्वाभाविक साक्षात्कार होने लगता है। मन की विक्षिप्तता निवृत्त हो जाती है और कल्पनाओं का कोला-हल कतई शान्त हो जाता है, ऐसी दशा में ज्ञेय वस्तु का स्वरूप प्रज्ञा-दृष्टि के सामने बिल्कुल स्पष्ट प्रकट हो जाता है, कोई आवरण नहीं रहता। इस अवस्था में मनुष्य के देहादि के भीतर ग्रहों का पृथक् पृथक् रूप तथा उनकी क्रिया स्पष्ट भाव से जानी जा सकती है। यह तो मोटी सी बात है कि योग राज्य में जिसे उन्नति प्राप्त होगी उसे योग के अंगरूप विज्ञान में उत्कर्ष लाभ करना सुगम होगा। फिर विज्ञान के समुत्कर्ष द्वारा ज्योतिष तत्व में अलौकिक व्युत्पत्ति की सहज प्राप्ति हो सकने में तो सन्देह की कोई बात ही नहीं।

योग-ज्योतिष की क्षमता बहुत ही विलक्षण होती है। किसी मनुष्य को देखने मात्र, यहाँ तक कि बिना देखे भी उसका जन्म-मुहूर्त तुरन्त जान जाना, जन्म समय के समस्त ग्रहों की स्थिति का ठीक-ठीक सन्धान पा जाना

एवं उस व्यक्ति के भूत और भविष्य का सूक्ष्म ब्यौरे के साथ निरूपण कर सकना योग–ज्योतिष का अद्‌भुत कार्य है। योगीगण भूमिष्ठ होने के समय को जन्म मुहूर्त नहीं मानते बल्कि गर्भाधान के समय को जन्मवेला स्वीकार करके चलते हैं। कारण, जिस क्षण में पितृवीर्य और मातृरज का परस्पर संयोग होकर प्राकृतिक विज्ञान के संन्निकर्षघटित नियमानुसार 'बिन्दु' की उत्पत्ति होती है, वही बिन्दु माता के गर्भ के अन्दर क्रमशः परिपुष्टि मात्र लाभ करता है। यथेष्ट परिपुष्ट तथा घनीभूत होनेपर तब वह गर्भ से निकल कर बाह्य जगत में आता है। इस यौगिक बिन्दु को ही शास्त्रों में 'बीज' कहा गया है। वृक्ष आदि का बीज जिस पद्धति से भूमि में या क्षेत्र में उपजता है और किसी तरह का प्रतिबन्धक न होने पर क्रमशः अंकुरित होकर यथा समय भूमि का आवरण भेद कर बाहर प्रकाश की दिशा में ऊपर उठता है, ठीक उसी प्रणाली से माता के गर्भ में भी देह–बीज का क्रमविकास सम्पादित होता है और समय होनेपर बाहर प्रकाशित होता है। योगीगण किसी देह को देखते मात्र ही उसके बीज का स्वरूप प्रत्यक्ष भाव से जान लेते हैं। बीज को पहचान लेने पर तथा उसके पारिपार्श्विक शक्तिसमूह का परिज्ञान हो जाने पर उसके भविष्य में होनहार आकार प्रसार के संबंध में पहले से ही ठीक निरूपण कर सकने में फिर कोई कठिनाई नहीं होती। प्राणिशास्त्र के जानने वाले जैसे वंशपरम्परा और परिस्थिति (heredity and environment) के द्वारा प्राणि-देह का तथा चित्त का विकास समझाने की चेष्टा करते हैं, निदानवेत्ता चिकित्सकगण जिस प्रकार सन्निकृष्ट तथा विप्रकृष्ट कारणों के द्वारा (अर्थात् Predisposing और Exciting Cause की आलोचना द्वारा) रोग के स्वरूप का निर्णय करने की चेष्टा करते हैं, नैयायिकगण जिस प्रकार उपादान-कारण तथा निमित्त-कारण आदि का विचार करके कार्योत्पत्ति की दार्शनिक उपपत्ति का सन्धान लगाते हैं, उसी प्रकार योगीगण भी देह–बीज पर अभिव्यक्त जगत की यावतीय क्रियाशील शक्तियों के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए उस बीज का

क्रम विकास जान पाते हैं।[1]

पूज्यपाद श्रीबाबा के साथ जिन लोगों का दीर्घकाल से परिचय है, उन सबने योग-ज्योतिष के नाना प्रकार के अद्‌भुत व्यापार प्रत्यक्ष देखे हैं। उनके पुराने शिष्य श्रीयुत उपेन्द्रनाथ चौधरी महाशय जब प्रथम बार पूज्यपाद बाबा के दर्शन करने गये थे, उस समय की एक घटना का उल्लेख यहाँ पर करना अप्रासंगिक न होगा। उपेन्द्र बाबू ने स्वयं इसका वर्णन जिस प्रकार लिखा है, हम उसी को यहाँ उद्‌धृत कर रहे हैं। उन्होंने लिखा है—"एक दिन बर्धमान से लौटते समय मैं तथा मेरा एक कर्मचारी (श्रीयुत वामापद विश्वास) बाबा के श्रीचरणों के दर्शन करने के उद्देश्य से गुष्करा के उस जमींदारी दफ्तर वाले मकान में आकर हाजिर हुए। देखा कि बाबा एक साधारण काठ के आसन पर बैठे हैं। महापुरुष ने मुस्कराकर मुझसे कहा—"कहो वत्स! कैसे हो?" यह कह कर पास में बुलाया। मैं समीप गया। बात ही बात में मैंने कहा—"आप तो खूब भली प्रकार से ज्योतिष जानते हैं। मैं अपनी जन्म कुण्डली ले आऊँ। आप देखियेगा?" वे बोले—"वत्स कुण्डली लाने की क्या आवश्यकता। तुम्हारी जन्मकुण्डली तो मेरे पास है। तुम तो मेरे बहुत दिनों के परिचित हो।" मैंने कहा—"देखूँ कहा है?" उन्होंने मेरी नोटबुक लेकर उसमें मेरे जन्मदिन, तिथि, नक्षत्र, सन, तारीख समेत ग्रहों के स्थान ठीक-ठीक अंकित करके हाथोहाथ कुण्डली तैयार कर दी। देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। यह क्या अद्‌भुत व्यापार? मेरी जन्म-कुण्डली इन्होंने कहाँ पायी? इस जीवन में तो इसके पहले इनसे मुझसे कभी भेंट हुई नहीं। तब मेरे संबंध में ये सब बातें इन्हें कैसे मालूम हैं?" मैंने उनसे पूछा तब वे हँसकर बोले—"अजी! इसके लिए चिन्ता क्या करते हो। सभी कुछ हो सकता है। लो, तुम जलपान करो।" यों कह कर नाना-प्रकार की मिठाइयाँ, आम और लिचू आदि फल देकर अपने हाथ से हमें खिलाया।

१—इस संबंध में विस्तारित आलोचना "श्री श्री विशुद्धानन्द प्रसंग" के द्वितीय भाग में रहेगी।

श्रीयुत रोहिणीकुमार चेल महाशय का जब पूज्यपाद बाबा के साथ सर्वप्रथम परिचय हुआ था, उसके संबंध में जो कुछ वर्णन उन्होंने लिखा है, उसका इस प्रसंग में उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। उन्होंने लिखा है—'मैं उस समय कलकत्ते में थियेटर—रोड पर रहता था। बहुत दिनों से मेरे प्राणों की उत्कट आकांक्षा थी कि मैं एक प्रकृत ब्राह्मण के चरणों में आश्रय ग्रहण करूँ। साधु—संन्यासियों के प्रति मेरे मन में वैसा आकर्षण नहीं था। मेरी धारणा थी, जो कोई ठीक समय पर संध्या—आह्निक करता हो जो संयमी हो, आचारवान हो, ऐसा ब्राम्हण यदि भाग्यबल से कहीं प्राप्त हो जाय, वही मेरा आदर्श होगा।

उस समय एक श्रीयुक्त मणीन्द्र भट्टाचार्य नामक एक भद्रपुरुष के मुख से पूज्यवाद बाबा की अद्भुत क्षमता की बातें सुनने में आयीं। मणीन्द्र बाबू ने बाबा के सम्बन्ध में बताया था कि भोलानाथ बाबू ऐसे चमत्कारिक पुरुष हैं कि वे एक ही समय में उनके साथ बैठकर ताश खेलते हैं और उधर चंडी-मंडप में पुजारीगण के साथ बातचीत भी करते हुए पाये जाते हैं। इसी प्रकार की और भी अनेक आश्चर्यजनक घटनाएँ बाबा के सम्बन्ध में उन्होंने मुझसे बतलायी थीं। जब मैंने सुना, साथ ही साथ मेरे मन में कुछ ऐसा भाव उत्पन्न हुआ कि मैंने मणीन्द्र बाबू से बाबा का पता-ठिकाना पूछकर गुष्करा के लिए एक जवाबी तार तुरन्त भेज दिया। तार में मैंने लिखा था कि "मेरी इच्छा है मैं आकर श्री चरणों का दर्शन करूँ क्या मैं अभी आ सकता हूँ? कृपया मुझे सूचित करिये"। यथासमय जवाब आ गया कि Not now (अभी नहीं)"। इस प्रकार का निराशाजनक उत्तर पाने पर भी मैं हतोत्साह नहीं हुआ। मेरे प्राण उधर ही को खिचने लगे। मैं तत्क्षण गुष्करा के लिए चल पड़ा। वहाँ पहुँचकर मैं बाहर बैठा रहा क्यों कि बाबा उस समय घर के भीतर क्रिया में लगे हुए थे। वे थोड़ी देर में बाहर आ गये। उनके शरीर से चारो ओर पद्म-गंध फैल रही थी।

घर के भीतर से भी विचित्र सुन्दर सुगन्ध निकल रही थी। दोनों आँखें रक्तवर्ण शोभा दे रही थीं। अपूर्व ज्योतिर्मयी मूर्ति थी। दर्शन करते हुए मैं

एक ओर बैठ गया था। देखकर बाबा ने मुझसे कहा—"कहो कब आये ?" मैं बोला—"अभी ही आया हूँ। आप ने अभी आने को मना किया था, किन्तु मुझसे बिना आये रहा नहीं गया।" यह कहकर मैंने हैण्डबैग के भीतर हाथ डाला और चाहा कि मेरी अपनी जन्मकुण्डली तथा मेरी स्त्री की जन्मकुण्डली बाहर निकालूँ। बाबा ने तुरन्त पूछा—यह क्या ? मैंने बता दिया। बाबा उसी समय घर के भीतर चले गये और हाथ में एक बही लिये हुए बाहर आये। मैंने देखा कि उस बही के अन्दर एक पृथक कागज पर मेरा तथा मेरी स्त्री प्रभावती दासी का नाम, जन्म-काल एवम् फलाफल आदि सब कुछ लिखा हुआ है। मैं आश्चर्य चकित हो गया। मैंने कहा—"आपने मेरा नाम किस प्रकार जान लिया तथा मेरी स्त्री का नाम भी कैसे आपको मालूम हुआ ? "मैं यहाँ पर आऊँगा" यह आपने कैसे जाना ? आने के सम्बन्ध में तो मेरा भी कोई निश्चय नहीं था। यहाँ तक कि तार करने के समय भी यह पक्का नहीं था कि मैं यहाँ पहुँच ही जाऊँगा। आपने जन्म-शक प्रभृति किस भाँति निकाले"? तब बाबा बोले-"तुम्हें इस समय यहाँ आने को मना किया था किन्तु जब देखा कि मना करने पर भी तुम यहाँ के लिए चल पड़े हो तब मैंने बैठे बैठे तुम दोनों की जन्म कुंडली बना डाली। यह लो, इसे अपनी जन्मकुण्डली के साथ मिला कर देख लो।" मैंने दोनों को मिलाया। सब कुछ मिला केवल जन्मगमुहूर्त में तनिकसा व्यतिक्रम देखा गया। तब वे बोले कि उनकी नूतन गणना ही ठीक है, मेरी पुरानी कुण्डली की गणना भूल है। उन्होंने और भी कहा कि यदि मेरी वाली पुरानी कुण्डली में प्रदर्शित लग्न ठीक होती तो मैं एक अवतार कल्प महापुरुष होता। बाबा बोले "देखो, यदि तुम्हारी पूर्वलिखित कुण्डली में प्रदर्शित समय पर तुम्हारा सचमुच जन्म हुआ होता, तो मैं ही तुम्हारे पास गया होता, तुम इस प्रकार मेरे पास न आये होते। इस समय पर मनुष्य का जन्म संभव नहीं हुआ करता। वह तो एक असाधारण क्षण है।"

ज्योतिष और चिकित्सा के अतिरिक्त स्वरोदय आदि अन्य विज्ञानों की भी उन्हें अदभुत जानकारी थी। गुरुदेव के आदेशानुसार समय समय पर उस

विद्या का प्रयोग भी वे करके दिखाते थे ।

हमलोग साधारणतया स्वरोदय के जितने भी प्रचलित ग्रन्थ जानते हैं, उस सबसे विलक्षण, अचूक, अथाह थी बाबा की स्वरोदय विद्या । स्वरोदय शास्त्र की जो अत्यन्त सूक्ष्म और रहस्यमय तत्वों की चर्चा बीच बीच में उनके मुख से हमने सुनी है, साथ ही साथ तत्संबंधी बहुत कुछ प्रत्यक्ष अपनी आँखों से हमने उनके निकट जो समय समय पर देखा है, उससे भली-भाँति जाना जा सकता है कि प्रत्यक्षदर्शी गुरु की सहायता के बिना केवल ग्रंथ पढ़ लेने मात्र से किसी भी शास्त्र का रहस्य अनुभव में आना सम्भव नहीं है ।

इस प्रकार विविध उपायों से प्रतिमास नियमित रूप से वे विपुल धनोपार्जन करने लगे। किन्तु जो आजन्म त्यागी, जो गृहस्थी में रहते हुए भी अंतः संन्यासी, दुर्लभ ब्रम्हपद जिनकी उज्वल दृष्टि के सामने तृण से भी अधिक तुच्छ प्रतीत होता था, उनके लिए यों धनसंचय कर रखना कैसे संभव था ? एक तरफ वे अर्थ जुहाते थे तो दूसरी तरफ यथेष्ट खर्च भी होता जाता था । अतिथि-सत्कार, साधु संन्यासियों को आमंत्रण, दीन और विपद्ग्रस्त परिवारों को सहायता दान इत्यादि नाना प्रकार से पानी के प्रवाह जैसे निरंतर पैसा खर्च होता था । आय और व्यय दोनों को वे एक समान दृष्टि से देखते थे । इस प्रकार निःस्पृह अकिंचन संन्यासी के सदृश वे घर में रहते हुए भी गृह-त्यागी के समान एवं काषायवस्त्र परिधान न करते हुए स्थिर-वीर्य संन्यासी की नाईं जीवन यापन करते थे ।

गुष्करा में निवास करते थे तभी वे विवाह कर लेने को बाध्य हुए थे । उनकी स्वर्गीया माता ने वंशरक्षा के निमित्त उनको विवाह करने के लिए जिद्द पकड़ी थी । पहले जिन्होंने वन-पर्वतों में तपस्या की, जो आरण्यक जीवन बिता चुके थे, अब उन्हें पुनः गृह संसार में पड़ने की इच्छा नहीं थीं । यद्यपि देशभ्रमण के पश्चात् लौटकर अब वे एक स्थान में निवास करने लगे थे फिर भी अंतर में संन्यासी ही रहे । किन्तु मातृ-आज्ञा को सर्वदा नतमस्तक होकर मानते चले आये थे, अतः माता की आज्ञा होते ही वे गुरुदेव के पास

पहुँचे और समस्त वृतांत तथा अपना अभिप्राय नम्रतापूर्वक उनके चरणों में निवेदन कर दिया। श्रीगुरुदेव ने भी उनको विवाह करने का आदेश दे दिया। उनके सतीर्थ एवं संगी हरिपद बाबू को भी इसी प्रकार गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए आज्ञा हुई थी किंतु वे विवाह करने को राजी नहीं हुए। उनका फल यह हुआ कि गुरुआज्ञा-लंघन के कारण उनकी तपस्या का प्रभाव नष्ट हो गया। वे अनेक बार गुरुदेव के श्रीचरणों में पड़कर रोये किंतु गुरुदेव ने अपने आदेश को नहीं बदला। उनके बहुत दिन तक रोने पर उन्होंने कहा "हरिपद, तुम्हारा यह जन्म तो निष्फल हो गया तथापि तुम्हारा आगामी जन्म सार्थक होगा।"

यह बात नहीं है कि भोलानाथ को भी इस सम्बन्ध में बिलकुल ही आशंका न हुई हो। परन्तु वे थे असाधारण गुरुभक्त। वे जानते थे कि गुरु हैं सदा मंगलमय। गुरु के वाक्य, कर्म, चिन्ता, जो जो कुछ सभी शिष्य के कल्याण के लिए ही होते हैं इस बात को शिष्य प्रथम भले ही न समझ सके किंतु आगे चल कर वह इसे अवश्य जान जाता है। एक बार निज सन्देह निवारणार्थ भोलानाथ ने श्री गुरुदेव से विनम्र प्रश्न किया था कि विवाह कर लेने पर उनकी तपस्या भंग तो नहीं हो जायगी? तब उत्तर मिला—"नहीं, तुम्हारा तपः प्रभाव कभी भी कम न होगा बल्कि तपस्या का तेज दिन प्रति-दिन और भी बढ़ता जायगा।" गुरुदेव के इस प्रकार के स्नेहमय आश्वासन वचनों को सुनकर भोलानाथ निर्भय होकर विवाह करने के लिए अग्रसर हुए थे। कुछ समय पश्चात् वर्धमान जिले में ही ठीक शुभ मुहूर्त पर उनका पाणिग्रहण कार्य संपन्न हुआ। गुरुदेव के आदेश से संन्यासी को आज गृहस्थ बनना पड़ा। उनकी माताजी की चिरपोषित हृदयाकांक्षा आज उनके द्वारा पूरी हुई। बाहर से गृहस्थ होते हुए भी वे उसी प्रकार संन्यासी रहे जैसे कि पहले थे। जो कोई अपने अन्तःकरण के भीतर सचमुच संन्यासी एवं सर्व-त्यागी है उसके लिए गृहस्थ धर्म का पालन तो केवल रंगमंच का अभिनय मात्र। देवगणों के कार्य संपादन के हेतु उन सबके अनुरोध से शिव भगवान

ने जिस प्रकार विवाह स्वीकार किया था; आज स्वर्गादपि गरीयसी गर्भ-धारिणी निजपूज्या जननी के आदेश के कारण एवं श्रीगुरुदेव के किसी अचिन्त्य महान उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए उन बालब्रह्मचारी त्यागी नवयुवक ने पुनः संसाराश्रम के भीतर अपने को डाला। गृहस्थाश्रम का श्रेष्ठत्व, आदर्श गृहीजीवन का प्रत्यक्ष उदाहरण दिखाने के उद्देश्य से, दुःख के दलदल में रौंदे हुए जीवों के उद्धार का महान संकल्प-कार्य परिणत करने के लिए करुणा भरे हृदय से आज युवक ने गुरुप्रदत्त "विशुद्धानन्द" नाम तथा 'तीर्थ स्वामी' उपाधि ग्रहण करते हुए संसार क्षेत्र में प्रवेश किया। मंगलमय के प्रत्येक विधान में मंगल ही भरा होता है। गुरु के इस विधान में भी त्रितापों से पीड़ित जीवों का परम कल्याण छिपा हुआ था। इस सत्य का अनुभव प्रत्येक जानकार व्यक्ति को उसके मर्म-मर्म में आज प्रत्यक्ष हो रहा है।

———

सप्तम परिच्छेद

पूज्यपाद श्री बाबा का जीवन निर्दिष्ट नियमों के अनुसार चलता था। प्रतिदिन प्रातःकाल नित्यक्रिया समाप्त करके वे कुछ समय के लिए बाहर टहलने चले जाया करते थे। वहाँ से लौटने के पश्चात् ठीक दस बजे वे भोजन करते थे। तब फिर आये हुए भक्त-गणों के साथ तथा अन्य सज्जनों के साथ बैठकर शास्त्र सम्बन्धी बातचीत एवं आध्यात्मिक चर्चा करते थे। प्रयोजन होने पर रोगियों को देखने चले जाते थे, अथवा कभी कभी फिर दोपहर के पश्चात् बाहर भ्रमण करने को निकल पड़ते थे किन्तु सूर्यास्त होने पर और अन्यत्र कहीं भी नहीं ठहरते थे। अपने पूजागृह का द्वार बन्द करके परमात्मा के ध्यान में निमग्न हो रहते। फिर दूसरे किसी भी लौकिक कार्य के पीछे अपने इस मूल्यवान मुहूर्त को बीतने नही देते थे। रोज की सन्ध्या—पूजा समाप्त करके कुछ समय के लिए एक बार बाहर आ बैठते थे। उसके कुछ ही बाद फिर से पूजा-गृह में प्रवेश करके दरवाजा वन्द कर लेते और प्रातः सूर्योदय हो चुकने के पश्चात् गम्भीर समाधि में मग्न होकर जगन्माता कल्याण-मयी आद्याशक्ति के स्नेहशीतल अंक में विश्राम करते थे। इसके पश्चात् पुनः घर से बाहर निकलकर यथासमय प्रातः भ्रमण करने चले जाते थे। उस समय उनके देह से पद्मगन्ध निकलती थी। जिस घर में बैठकर वे साधना करते थे, उस घर में भी दिव्य कमल—गन्ध नित्य विराजमान रहती थी। उनके पास का सारा वायुमंडल मानो ताजे खिले हुए कमल की अलौकिक सुगन्ध से भरा हुआ होता था। उनके एक भक्त ने उनकी उस समय की अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है —

"मैं जब कभी जाता था देखता था बालक और बालिकायें पूज्यवाद बाबा को घेरे हुए हैं और वे नाना प्रकार के फल एवं मिठाइयाँ देकर उन बच्चों को सन्तुष्ट कर रहे हैं। वहाँ सदा ही आनन्द रहता था। गुष्करा तो

मुझे आनन्द का हाट दिखाई पड़ता था। घाट में, मठ में, बाजार में, दुकान में जहाँ तहाँ मानो आनन्द ही आनन्द बिखर रहा है। बाबा के निवास-गृह में निरन्तर पद्म-गन्ध विराजमान रहती थी। मानो तैंतीस कोटि देवी-देवता तथा अपने-अपने पुष्प-सभार समेत षड्ऋतु वहाँ सदा विरामान रहती थी। बाबा का शरीर साधना द्वारा लोगों को शिक्षा देने के लिए ही मानों विधाता ने अडिग भाव से बढ़ कर बनाया हो।

मैं देखा करता था कि वे किसी किसी दिन रात को दो-तीन बार एवं दिन में दो-तीन बार स्नान किया करते थे। भयानक शीतकाल में गम्भीर रात्रि में हाथ में लालटेन लेकर मैं उनके साथ जाया करता था। पुष्करिणी के जल में प्रायः आधा घण्टा तक वे डुबकी लगाये घुसे रहते थे। मैं किनारे पर घोर टंढक से काँपता हुआ काष्टवत् खड़ा हुआ यह सारा दृश्य देखा करता था। फिर वे स्तोत्र-पाठ करते हुए तीर पर पहुँचते एवं घर वापस आ जाते। पुनः साधना-गृह का द्वार बंद कर लेते। तब सम्पूर्ण घर भीनी सुगन्ध से महमहा उठता था। मैं दरवाजे के समीप एक चौकी पर बैठा रहता। प्रातःकाल सात या साढ़े सात बजे तक फिर उनके दर्शन नहीं मिलते थे। इस बीच एकान्त में न जाने वे किस अलौकिक जगत में, किस अजाना प्रदेश में रस-मग्न हो रहते एवं प्राणों के भी प्राण अपने हृदय सम्राट् के परम प्रेम में विभोर होकर उनके साथ ज्ञान-गहन क्रीड़ा में लगे रहते। प्रातःकाल जब पूजाघर के कपाट खोलकर वे बाहर निकलते तब ऐसा लगता था मानों हृदय के कपाट भी खुल गये, हृदय में बालक-भाव फूट उठा, झूमती आँखें, सारा शरीर सुगंध से भरा, मानों अन्तःप्रवेश की वह गभीर तन्द्रा पूरी अब भी नहीं कटी, अब भी प्राणप्यारे ने प्राणों से बिदाई नहीं ली, चरण अब भी चलने को राजी नहीं, मुख अब भी मुखरित होने को तैयार नहीं, मानों उस समय प्रियतम के प्राण में प्राण, मन में मन, हाथ में हाथ, पाँवों में पाँव और रूप-सागर में दृष्टि डूबकर सब एकाकार हो गये हों, इस बाहरी जगत के साथ समस्त अंगोंने संबंध विच्छेद कर लिया और वे सबके सब प्राणपति विश्वनाथ की सेवा में संलग्न रहे। वे शिक्षा दे रहे थे कि इस प्रकार से दृढ़ता और एकाग्रता पूर्वक यदि

साधना नहीं की जायेगी तो भगवत्प्रेम के प्रेमी बन सकना संभव न होगा, अर्थात् पुरुष के साथ प्रकृति का, परमात्मा के साथ जीवात्मा का, भगवान के साथ भक्त का मिलन होना संभव न होगा एवं जीव-भाव की शिव-भाव में परिणति नहीं हो सकेगी।"

"फिर बाहर आकर बैठ जाते, कोई पंखा लेकर हवा करता, तो कोई पैर दबाता फिर भी गम्भीर ध्यान का नशा अभी कटा नहीं, मानो उसपार के अजाना राज्य की सीमा छोड़कर मन अब भी इस पार लौटा नहीं। मैं प्राय: देखा करता था कि उन्हें बाह्य चेतना में आने में एवं पुन: बातचीत शुरु करने में बहुत विलम्ब होता था।"

"उस समय बैठक के बरामदे में रोगी, साधु, गृही, बालक, वृद्ध, भोगी और योगी सभी आकर इकट्ठे हो जाते थे। सबके मन तथा नेत्र उन्हीं एकमात्र महापुरुष की ओर लगे रहते थे। तब वे सबके ऊपर स्नेहभरी दृष्टि डालकर मधुर शब्दों में पूछते थे—"कहो, अच्छे तो हो ?"

"मानों वे साक्षात कल्पतरु ही थे। संसार ताप से संत्रस्त हुए बद्ध विषयासक्त जीव कल्पतरु की सुखद छाया में बैठकर अपने अपने तापित प्राणों को शीतल करने के उद्देश्य से उनके पास पहुंचते थे। कोई कहता औषध दीजिए, कोई पूछता—"बाबा मेरी गति क्या होगी ? कोई पुत्र-शोक से कातर होकर बाबा से शांति का उपाय पूछता हुआ उन्हें घेर लेता था। कोई वस्त्र चाहता, तो कोई बाबा के साथ अलग एकान्त में साधन-तत्व संबंध में कुछ बात करने के लिए व्याकुल भाव से प्रार्थना करता। कोई कोई व्यक्ति हाथों में फल-फूल लिये हुए खड़े खड़े प्रतीक्षा करता रहता, बालक बालिकायें प्रसाद पाने की लालच में बैठे रहते। जो कोई जैसी इच्छा लेकर बाबा के पास आता था उसीको लेकर वे उसको शांति प्रदान करते थे।"

"जब सब कोई विदा हो जाते थे, स्वयं एक आधी बाँह की बंडी पहन कर परिभ्रमण के लिए घर से बाहर निकल पड़ते थे। एक घंटे बाद वापस आते और पूरब की ओर के कमरे में एक कोने में अपनी चौकी पर

बैठकर विविध प्रकार के विषयों पर उपदेश दान करते । दोपहर को भोजन कर चुकने पर पुनः बैठते एवम् नाना-भाँति शास्त्र चर्चा करते । शास्त्रों के गूढ़ और जटिल रहस्यों को सरल भाव से समझा देते । एक बजे से चार बजे पर्यन्त गुष्करा ग्राम के बहुत से ब्राम्हण, पंडित तथा अन्य पड़ोसी वहाँ पधारते । जिस जिसको जो कुछ जानने की इच्छा होती, बहुत अच्छे ढंग से उसे स्पष्ट करके समझा देते थे । इस प्रकार से समय बिताते और सूर्य-भगवान के अस्ताचल पर पहुँचते ही स्वयं सायं-सन्ध्या का अपना नित्य कर्म पूरा करने के लिए पूजागृह में प्रवेश करके दरवाजा बंद कर लेते थे ।"

इस प्रकार से दिन पर दिन, मास पर मास बीतते चले जाते किन्तु उनका नियम भंग कभी नहीं होता था । वे कठोर अध्यवसायी थे । कदापि कर्तव्यपालन में चूकते न थे ।

गुष्करा में पूज्यपाद बाबा के गृह में एक विषधर सर्प रहता था । जब क्रिया करते-करते उनका शरीर भीषण भाव से उत्तप्त हो उठता था, तब वे साँप को शरीर से लपेट लेते थे । सर्प के देह के अत्यन्त शीतल स्पर्श से उनके शरीर को अच्छा ठंढा मालुम होता था । बाबा ने उस सर्प का नाम रखा था 'शिवदास' । प्रेमपूर्वक वे इसी नाम से पुकार कर उसे बुला लेते थे ।

वह सर्प कभी किसी का अनिष्ट नहीं करता था । हाँ, कदाचित कोई व्यक्ति जब उस घर में घुसता था, तब वह जरूर फुफकार उठता था, किन्तु किसी को काटता नहीं था । बाबा की अनुपस्थिति में एक बार एक नूतन सेवक उस घर में झाड़ू देने गया । उसे मालूम न था कि इस घर में सर्प रहता है । उस अपरिचित व्यक्ति का उस घर में घुसना हुआ कि तुरन्त सर्प जोर से फुफकारता हुआ दौड़ा । वह नया नौकर उसे देखते मात्र तुरन्त मूर्छित होकर गिर पड़ा । कुछ देर पश्चात् बाबा जब वापस आये, तब उसको पुनः होश में लाये । ऐसी घटना भी कभी-कभी घट जाती थी ।

———

अष्टम परिच्छेद

एक बार विश्वनाथ दर्शन करने के लिए उनके मन में प्रबल इच्छा हुई। सबको बुलाकर उन्होंने कहा—"विशेक्षेपा को देखने के लिए मन छटपटा रहा है। चलो, चलें एक बार काशी हो आएँ।"

श्रीयुत यज्ञेश्वर चोंगदार महाशय जिन्हें भोलानाथ "श्वशुर" कहकर पुकारते थे, एवं वे भोलानाथ को "जामाई" नाम से सम्बोधन करते थे, साथ में जाने की इच्छा प्रकट करने लगे। बाबा उन्हें साथ में ले जाने को राजी न थे। तथापि उनके पिताजी की अनुमति के कारण फिर उनको साथ में ले लिया। श्रीयुत केदारनाथ मोदक प्रभृति भी संग में थे। वे सभी लोग यथासमय काशी धाम में आकर उपस्थित हुए। उसी समय प्रयाग में कोई विशेष पर्व था। वहाँ पहुंचने के संबंध में बाबा ने सबके सामने प्रस्ताव रखा। किन्तु उसी समय इधर अचानक चोंगदार महाशय अत्यन्त अस्वस्थ हो गये। उनके ज्वर का तापमान १०६° तक पहुंच गया। यह देखकर प्रयाग पर्व में जाने की आशा सब लोगों को छोड़ देनी पड़ी। उधर बाबा पूजा के आसन से अब भी उठे न थे। उन्हें ज्वर के संबंध में कोई खबर नहीं थी। उनके बाहर आते ही सभी लोग निराश भाव से कहने लगे, "मालूम होता है इस बार प्रयाग जाना स्थगित हो गया।" तब बाबा बोले—"क्यों? ऐसा कदापि नहीं होगा। मैंने जो संकल्प किया है, वह पूरा ही होगा। इसमें सन्देह नहीं।" यह कह कर उन्होंने अपने दोनों चरण आगे बढ़ा दिये और कहा—"लो, मैंने ये दोनों चरण आगे फैला दिये, यज्ञेश्वर को लाओ। मेरे दोनों चरणों के मध्यस्थल में उनका माथा छुवाये हुए पकड़े रहो।" ठीक वैसे ही किया गया। लगभग पन्द्रह मिनट तक वैसा रखे रहने पर बुखार एकबारगी छूट गया। ताप हट कर शरीर शीतल हो गया। कुछ समय के भीतर ही यज्ञेश्वर बाबू बहुत कुछ अपनी स्वाभाविक स्वस्थ अवस्था को प्राप्त हो

गये। बस, फिर तुरन्त पूरी मण्डली प्रयाग धाम पहुँची। सबने त्रिवेणी स्नान किया और वहाँ पर सब प्रकार के धर्मकृत्य एवं आनन्दोत्सव मनाये।

पूज्यपाद बाबा जिस समय गुष्करा में रहते थे, एक दिन संध्या समय श्रीयुत उपेन्द्र बाबू उनकी चरण सेवा में लगे थे। तब उसी बीच उन्होंने श्रीगुरुदेव से विनम्र प्रश्न किया—"प्रभो! 'जगत् मिथ्या है' ऐसी बात किसी-किसी के मुख से सुनने में आती है। क्या वह ठीक है?" उत्तर में बाबा बोले—"कोई-कोई जगत को मिथ्या देखते हैं, किन्तु जिनको ज्ञान हुआ है, प्रज्ञा नेत्र खुल गये हैं, वे देख पाते हैं कि सब कुछ एक मात्र ईश्वर ही हैं।"

उपेन्द्र—हमको तो ज्ञान हुआ नहीं। तब जो कुछ हम लोग यह देखते हैं उसका क्या अस्तित्व ही नहीं है? तब फिर कैसे किस कारण जगत के ये सब पदार्थ हमारी दृष्टि में चारो ओर स्पष्ट भासमान हो रहे हैं? कुछ भी न होने से क्या कुछ की उत्पत्ति सम्भव है?

बाबा०—"भ्रमवशतः असत्य, सत्य प्रतीत होता है। ज्ञान में जो नहीं है, अज्ञान में वह है ऐसा दिखाई पड़ता है। देखो, तुम यह जो जवा-पुष्प देख रहे हो वह तुम्हारी दृष्टि में जवा है किन्तु वास्तव में क्या वह जवा है?"

उपेन्द्र—क्यों बाबा? मैं अभी तोड़कर लाता हूँ और उसे आपको दिखाता हूँ। देखिए, वह जवा-पुष्प है कि नहीं? बाबा किंचित् मुस्कराये। हँसते हुए बोले—"अच्छा, तो उपेन्द्र, ले आवो तुम अपना वह जवा-फूल।" तुरन्त उपेन्द्र बाबू उठकर जवा-वृक्ष के पास पहुँचे। फूल तोड़कर के देखा वह जवा नहीं है, वह तो गुलाब का फूल दिखाई पड़ रहा है। वे किंकर्तव्यविमूढ़ होकर खड़े खड़े आश्चर्य से सोचने लगे—था तो निश्चित यह जवा, तब फिर गुलाब कैसे हुआ? पेड़ तो जवा का ही है। देखूँ, बात क्या है? फिर से उस जवा-पेड़ के पास गये। देखते हैं कि वह तो गुलाब का वृक्ष वे स्तंभित रह गये। निरुत्तर हो गये। उस समय से वह वृक्ष गुलाब का वृक्ष! बन गया। बाबा ने समझाया—"तुम्हारी आँख के सम्मुख जो रंग भासते हैं उन्हीं को

तुम देख पाते हो। वह दृश्य तो है गुण-वैषम्य का फल। सूक्ष्म सूक्ष्म परमाणुओं के समूह तथा गुणों के सम्मिश्रण द्वारा इस जगत की रचना हुई है। मानसिक वृत्तियों के समूह के समूह चित्त-सागर में उद्भासित होते हुए मायिक जीव के नेत्रपटल पर कर्मरूप से बाहर प्रकाशित होते रहते हैं। किसी को वे आनन्ददायक लगते हैं, तो किसी को वे उलटे अतृप्तिकर मालूम होते हैं। यही है गुण–वैषम्य का खेल।"

उपेन्द्र बाबू ने पुनः प्रश्न किया—"बाबा, यह जो आप हमारे सामने प्रत्यक्ष हैं, यह भी क्या मिथ्या है?" बाबा बोले "हमारा अस्तित्व कहाँ है?" यह कहते कहते बाबा एकदम अदृश्य हो गये। उपेन्द्र बाबू चकित हो काष्ठवत् खड़े ही ताकते रह गये। कुछ क्षणों के पश्चात् प्रमुख द्वार से बाबा भीतर आकर पुनः आसन पर बैठे हुए दिखाई पड़े। उपेन्द्रबाबू को तमाखू का एक कार्य देते हुए बाबा ने कहा:—"देखो वत्स! केवल एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है। तुम अपना कर्तव्य-कर्म ठीक ठीक करते जाओ। बस, फिर सब कुछ क्रमशः जान पाओगे।"

कुछ समय पश्चात् पूरब की ओर के द्वार के कपाट खोलकर बाबा ने भीतर प्रवेश किया, साथ ही साथ उपेन्द्र बाबू को अन्दर बुलाया। भीतर आने पर उनको बैठ जाने को कहा। कुछ क्षण बीते, एक से एक बढ़ कर आश्चर्यजनक घटनाएँ उन्हें प्रत्यक्ष दिखायीं। पृथ्विकी गति और जिस शक्ति से जगत के समस्त द्रव्य निरन्तर घूम रहे हैं, एक स्थान में स्थिर भाव से एक क्षण भी ठहर नहीं पाते, वह प्रत्यक्ष दिखा दिया। इस अस्थिर जगत में स्थिर वस्तु किस प्रकार उपलब्ध करना यह भी समझा दिया और स्थिर के भीतर चंचला प्रकृति किस गतिविधि से कर्म के समस्त सृष्टि–स्थिति और प्रलय–व्यापारों को चलाती है, जड़ तथा चेतन दोनों के मेलमिलाप से किस भाँति कार्य-संपादन करती है यह सब आँखों के सामने बहुत अच्छी तरह से स्पष्ट दृश्य दिखा दिखाकर उनको बोधगम्य कराया। यह सब देखकर उपेन्द्र बाबू अवाक् रह गये। उन्होने ये सब घटनायें प्रत्यक्ष देखीं सही और मस्तिष्क के

भीतर सबको दृढ़ता से पकड़ रखने की भरसक चेष्टा भी की। परन्तु नदी के तीव्र वेग भरे प्रवाह की नाईं शत-शत विघ्न बाधायें उन भावों को हटा मिटा देने के लिए दौड़-दौड़ कर आने लगी। बाबा ने उनकी आन्तरिक दुर्दशा देखी और उनसे कहा—"वत्स, बिना साधना के क्या तुम इन सबको अटका पाओगे? कठोर तपस्या के द्वारा प्राप्त होने वाली वस्तुएँ क्या यों ऐसे सहज ही में पकड़ रखी जा सकती है? अपना चित्त निर्मल बनाओ फिर वे अपने आप ही तुम्हारे पास आयेंगी। इस समय अभी असद्वृत्तियाँ तुम्हारे मलिन चित्त से हटना नहीं चाहती, किन्तु चित्त निर्मल होने पर फिर सद्वृत्तियाँ भी उसी प्रकार कभी तुमको छोड़ना नहीं चाहेंगी। विकारी चित्त नीचे की ओर ले जाता है, निर्मल चित्त ऊर्ध्व की ओर उठाता है। अतः जिस किसी उपाय से अपने चित्त को तुम नित्य निर्मल बनाये रख सको, उसी के लिए सतत प्रयत्न करते रहो।"

गुष्करा से उत्तर-पश्चिम की ओर कुन्नूर नदी के तट पर एक वटवृक्ष के नीचे एकबार एक संन्यासी पधारे। वे अपना आसन छोड़कर अन्यत्र कभी भी जाते न थे। वहीं पर आकर लोग उन्हें नाना प्रकार के फल-मूल एवम् खाद्य पदार्थ दे जाते थे। किन्तु वे कुछ भी खाते नहीं थे। वे मौनी थे। साधारणतः किसी के साथ बात नहीं करते थे। पूज्यपाद बाबा बीच बीच में उनके पास जाया करते थे। सुना है कि वे थे बाबा के सतीर्थ और पूर्व विज्ञानाचार्य परमहंस श्रीयुक्त श्यामानन्द स्वामी महाशय के शिष्य—श्री धवलानन्द स्वामी। एकदिन रात्रि के समय गुष्करा निवासी श्रीयुत् केदारनाथ मोदक और कालिदास जी घटक दोनों जन बाबा के साथ पपीता, दूध आदि लेकर संन्यासी जी के दर्शनार्थ चल पड़े। गुष्करा से उस वट के नीचे पहुँचने में एक पुल को पार करके जाना होता था। पुल के पास से वह वटवृक्ष लगभग पाँच सौ हाथ दूरी पर था। पुल पर से उस वटमूल की ओर दृष्टि डालने से ऐसा दिखाई पड़ता था मानों वहीं पर एक ज्योति एक बार जल उठती है, एक बार बुझ जाती है। उसके बीच में अंग-अवयवादि कुछ भी नहीं दीख पड़ते थे। उनके साथ में एक लालटेन थी। अचानक वायु का

झटका आ जाने से लालटेन बुझ गयी। बिना प्रकाश के घोर अन्धकार के भीतर से जाने में भयभीत होकर केदार बाबू बाबा से अपने डर लगने की बात सुनाने लगे।

बाबा ने किंचित् हँसकर लालटेन की ओर एक फूँक मारी। तुरन्त लालटेन अपने आप जल उठी। कहना न होगा कि यह उनकी इच्छा शक्ति से ही हुआ था। फिर जैसे जैसे उस संन्यासीजी के निकट पहुँचते गये, तो क्या देखते हैं कि वृक्ष की जड़ में जो ज्योति दिखाई पड़ती थी, वह संन्यासी जी के अंग का तेज था। जब पास आ गये तो देखा कि सन्यासी जी उनकी ओर देखते हुए एक अद्भुत भाव से हँस रहे हैं। केदार बाबू ने साथ में लाये हुए फल आदि उनके सन्मुख रखकर उनमें से कुछ खाने का आग्रह किया। किंतु संन्यासी-प्रवर पुनः हँसे एवं सिर हिलाते हुए बोल उठे "जब तक चन्द्र सूर्य हैं तब तक नहीं।"

एक बार वर्षा-ऋतु के अन्त में सत्रह अठारह जन संग में लेकर बाबा गुष्करा से कामाक्षा-धाम के लिए चल पड़े। यथासमय कामाक्षा धाम में पहुँचकर ठहरने का ठौर-ठिकाना ठीक किया और वहाँ के पण्डों से कुमारी-भोजनार्थ कुमारी बुला देने के लिए कहा। किंतु पण्डों ने असमर्थता प्रकट करते हुए इन्कार कर दिया। वे लोग बोले—"कामाक्षा-धाम में साधारणतः घर के भीतर बुलाकर कुमारियों को भोजन नहीं कराया जाता। जिसे कुमारी-भोजन कराने की इच्छा होती है, वह देवी मन्दिर में अथवा अन्य देव-स्थान में उसकी व्यवस्था करता है।"

पण्डों की ये बातें सुनकर बाबा का तनिक भी उत्साह भंग नहीं हुआ। वे अपने संकल्प पर दृढ़ बने रहे। उन्होंने उस घर में ही कुमारी भोजन की व्यवस्था ठानी। उनके आदेश से लूची आदि विविध प्रकार के भोज्य पदार्थ तैयार किये गये। फिर आसन, पूजा की वस्तुएँ, एवं भोजन-सामग्री सब कुछ सुंदर ढंग से सजाकर कुमारी की बाट जोहने लगे। समय बीत रहा था किन्तु एक भी कुमारी के दर्शन नहीं हो रहे थे। उधर कालीदास घटक, विमलानन्द प्रभृति सयाने वयोवृद्ध भक्तगण मुँह बना कर मानों कुछ परिहास का भाव

भी व्यक्त करने लगे। तथापि बाबा रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए और स्थिर धीर-गम्भीर भाव से स्वकर्तव्य की चिन्ता में डटे ही रहे। ठीक समय के अन्दर ही देखा गया कि वहाँ पर एक कुमारीमूर्ति अकस्मात आकर उपस्थित। सामने देखते ही भक्तगणों ने उसे श्रद्धा-सम्मान पूर्वक आमंत्रित करके सविधि भोजन करवाया। भोजनोत्तर कुमारी स्वस्थान में चली गयी। वार बार आग्रह करने पर भी दक्षिणा लेना स्वीकार नहीं किया।

इसके पश्चात् बाबा ने स्वच्छ रेशमी वस्त्र धारण किया और शुद्ध संयत वेश से जगदम्बा के मन्दिर में जाकर वे अभीष्ट क्रिया में निमग्न हो गये। दो घण्टे तक मंदिर के अंदर मां की आराधना में लगे रहे, फिर वाहर आये। उस समय उनके कपाल पर रक्तचंदन का टीका, शरीर पसीने से भींगा हुआ, मुख पर मृदु मधुर प्रशांत हास्य, उन्हें देखते मात्र ही उत्कंठित भक्तजनों को अत्यंत आनंद हुआ, वे लोग उत्साह से भर गये। यात्रा से वापस आने पर बाबा का घर पहुँचना हुआ नहीं कि तुरंत चारो ओर से निरंतर वेग से कुमारी-मूर्त्तियों का आना आरंभ हो गया। दीर्घकाल तक इस प्रकार आनेवाली कुमारी-मूर्त्तियों का स्वागत-सत्कार, पूजन भोजन कराने में भक्तगण अपने जीवन को धन्य समझने लगे।

एक समय की बात है, बाबा गुष्करा से वर्धमान आये। वहाँ श्रीयुत उपेन्द्रनाथ चौधरी के घर में ठहरे। उस समय उपेन्द्र बाबू पुलिस विभाग में सब-इन्स्पेक्टर थे। वहाँ के पुलिस आफिसर थे आर. एफ. गाइज्। वे वहुत ही उग्र प्रकृति के थे। उपेन्द्र बाबू के साथ भी उनका बड़ा कठोर व्यवहार होता था। पूज्यपाद बाबा एक-दो दिन के लिए मात्र वहाँ पधारे थे। उपेंद्र बाबू उनके उद्यमशीलकर्मी भक्तों में से थे। उहोंने इस अवसर पर बाबा की अतुलनीय सेवा की। एक दिन रात्रि के समय सेवा में कुछ त्रुटि हो गयी। रात को वे बाबा के पूजागृह में नैवेद्य आदि के निकट फूल रखने को भूल गये। बाबा जब द्वार बंद करके क्रिया करने बैठ गये, तब पूजा घर के चारो ओर अपूर्व मनोहर पद्मगंध फैल गयी। इसी गंध को

पाकर ऊपेंद्र बाबू को फूल रखने की बात का स्मरण हो आया। अवश्य उन्होंने फूल लाकर रख लिये थे, परन्तु देने को भूल गये थे। फूल का भूल उनके चित्त में चढ़ गयी। रात भर उन्हें नींद नहीं आयी। आत्मग्लानि से हृदय भर गया था। सवेरे आठ बजने के लगभग बाबा ने घर का दरवाजा खोला। किन्तु लज्जावश आज उपेन्द्र बाबू दरवाजे के बाहर ही खड़े रहे। घर के भीतर प्रवेश करने का उनको आज साहस न हुआ। फिर जब बाबा ने उन्हें स्नेह-भरे स्वर से घर के भीतर बुलाया, तब उन्हें अब मालूम पड़ा कि अपराधमार्जन हो गया। वे तुरन्त भीतर गये। जाकर देखते क्या हैं कि शत शत कमल पुष्पों से पूरा घर भरा हुआ है। ऐसा मालूम हो रहा था मानो वे स्वयं दिव्य पद्मगन्ध के उन चतुर्दिक् बिखरे तरंगों पर आनन्द से उतरा रहे हों। बाबा के शरीर से वह स्निग्ध मधुर पद्मगन्ध झर-झर करती हुई चारो ओर फैल रही थी। उपेन्द्र बाबू उसका अद्भुत स्पर्श पा रहे थे।

बाबा बोल उठे—"अच्छा, लाओ, स्नान का प्रसादी जल लेकर सब को बाँट दो"। उपेन्द्र बाबू ने प्रसाद तथा स्नान-जल सबको वितरित किया। स्वयं भी ग्रहण किया और वे थोड़े एक तरफ हटकर खड़े हो गये। बाबा ने बात उठायी "क्यों उपेन्द्र! फूल देने को भूल गये थे?"

उपेन्द्र—"हाँ बाबा, मुझसे अपराध हुआ। क्षमा माँगता हूँ। बाबा—"अरे वाह। सन्तान का भला अपने पिता के निकट अपराध क्या हो सकता है वत्स! उपेन्द्र तुम आज तो फूल ले आये थे, उन फूलों से आज पूजा नहीं होनी थी। नहीं तो मैं तुमसे स्वयं ही माँग लेता। मैं पूजा करने बैठ गया, तब मुझे दिखायी पड़ा कि एक पुष्करिणी के भीतर बड़े बड़े सुन्दर कमल-पुष्प खिले हैं। अतः मेरे मन में आया कि आज मैं इन्हीं पुष्पों से माँ की पूजा करूँ। तुम्हारी वैसी कोई भूल नहीं।"

बाद में बाबा ने कहा—"आज मैं तुमको एक आश्चर्यजनक घटना दिखाऊँगा। अच्छा सुनो, मुझे मालूम हुआ है कि मानों तुम्हारे साहब तुम्हारे ऊपर बहुत ही नाराज हैं। वे तुम्हारा अनिष्ट करने की सोच रहे हैं। फिर

भी तुम आज अपने प्रमोशन के लिए एक प्रार्थना-पत्र लिखकर उनके हाथ में दे आओ तो देखें। उपेन्द्र बाबू बोले—"बाबा, यह कार्य मैं किस प्रकार कर पाऊँगा ? अर्जी देते ही साहब मारने दौड़ेंगे। जब कि मैं और कागज-पत्र लेकर उनके पास जाया करता हूँ, तब वे मेरे मुँह की ओर सिर उठाकर ताकते तक नहीं। कागज-पत्र मैं उनके सामने सरका देता हूँ और कार्य होते ही वहाँ से चला आता हूँ।"

बाबा बोले—"अच्छा, यदि ऐसा है तो मानो आज के दिन मेरे लिए ही तुम मार खाकर आवो। देखो तो, सचमुच क्या होता है।"

उपेन्द्र बाबू ने यथासमय अर्जी लिख ली, कार्यालय में जाकर आवश्यक कागज-पत्र ठीक से सजा कर रख लिये। वह दर्खास्त भी साथ में रख दी। जब साहब ने पुकारा उपेन्द्र बाबू हाजिर हो गये और पास में खड़े होकर एक एक करके आफिस के सब कागज पेश किये। फिर अन्त में "जय गुरू" कहकर अपना प्रार्थना-पत्र साहब के सम्मुख रख दिया। अन्य कागज-पत्र देते समय साहब नीचे की ओर मुँह किये हुए ही प्रत्येक कागज पर हुक्म देते थे। किन्तु जब यह प्रार्थना-पत्र पेश हुआ, तब कागज की ओर न देखकर पहले उपेन्द्र बाबू की ओर स्नेह-भरी दृष्टि से देखा, फिर प्रार्थना-पत्र पढ़ना प्रारम्भ किया उसे दो बार पढ़ा। पढ़ चुकने पर उस पर अपना अभिमत लिखने लगे। पूरा एक पृष्ठ लिख डाला। वह उपेन्द्र बाबू को पढ़कर सुनाया और कहा—"तुम्हारे डबल-प्रमोशन के लिए मैंने कलकत्ते के बड़े आफिसर को लिख दिया है। वे साहब-महोदय यदि तुम्हें दुगुनी तरक्की न देंगे, तो मैं स्वयं ही अब शीघ्र उस पद पर जाने वाला हूँ, मैं तुम्हें प्रमोशन दूँगा।" उपेन्द्र बाबू ने कागज लपेट लिया और कार्यालय में वापस आ गये। वहाँ से जब अपने घर पहुँचे, तब सारा वृतान्त बाबा से निवेदन किया। बाबा के श्रीमुख से निकला:—"अहा ! नारायण क्या कभी अविचार करेंगे ? वत्स, नारायण के राज्य में अविचार नहीं है। वे जो कुछ भी करेंगे सब मंगल के लिए ही करेंगे। जीव उनकी महिमा क्या जाने। जीव अपनी ओर

से जो जो मनमाना चाहता रहता है, यदि वह सभी उसे दे दिया जाय तो क्या कभी उसकी रक्षा हो सकती ? नारायण न दें तो पाने का कोई उपाय नहीं। वे जो सब समय सबकुछ नहीं देते यह उनका मंगल-विधान ही है। अन्धजीव तमोगुण के द्वारा स्वयं कर्ता बनकर के विश्वपति के कार्यकौशल को भूल जाता है। अहंकार के आवेश में उसकी बुद्धि कलुषित हो जाती है प्रज्ञा का लोप हो जाता है और नश्वर विषय सुख के आस्वादनों को करते कराते वह कुपथगामी बन जाता है। सत्य का समादर सदा सर्वकाल रहता है किन्तु मिथ्या का प्राधान्य कुछ समय के लिए होने पर भी वह स्थायी नहीं टिकता।"

———

नवम परिच्छेद

बाबा अपने सतीर्थगणों के बीच में यद्यपि वयस् में कनिष्ट थे, फिर भी आध्यात्मिक उन्नति में अधिक श्रेष्ठ होने के कारण वे बहुतों के लिए श्रद्धा समादर के पात्र बन चुके थे। महात्मा भृगुराम स्वामी का विशिष्ट कृपाभाजन बनना कोई साधारण सौभाग्य की बात नहीं। उनके एक गुरु भ्राता ने एक दिन उनके पास इस प्रकार लिख भेजा था:--

"तुम तो सब जानते ही हो। तुम तो अच्छे ही हो। तुम्हारे जैसे यथार्थ पुरुष का ही संसार में रहना उचित है। महात्मा महापुरुष भगवान परमाराध्य दादा गुरुदेव श्रीमद् भृगूराम परमहंसदेव ने तुम्हारे संबंध में जो कुछ कहा है वह वर्णनातीत है। तुम ही हो यथार्थ भक्त, महापुरुष, योगी, ज्ञानी, त्यागी और गृही। असीम सहनशील हो अत: सर्वभोगी दादा गुरुदेव ने एक दिन सब योगियों के सन्मुख तुम्हारे असीम योग सामर्थ्य के सम्बन्ध में प्रकाश डाला था। तुम अब भी जो उग्र तपस्या करते हो, उसे भी दिखाया था। किन्तु घूम कर देखा तो कुछ भी नहीं, चमत्कारिक ढंग से सब गायब। देह रोमांचित। फिर देखते हैं कि जगत भी नहीं है। यह क्या खेल है भाई? यही मैं जानना चाहता हूं। मुझे जीव के आयुमान से भी अतीत दीर्घजीवन प्राप्त हो चुका है। मैंने अनेकानेक म्लेच्छ, हिन्दू, मुसलमान शिष्य ग्रहण किये। बहुत कुछ देखा, बहुत कुछ कर चुका। तुम्हारी जैसी योग-शिक्षा परमाराध्य भृगुराम स्वामी ने मुझे दी नहीं। मैं चाहता हूं तुम्हारे पास कुछ दिन तक ठहरूं और तुमसे चात्वर योग एवम् यागकल्प योग सीखूं। मुझ में ऐसी इच्छा क्यों हो रही है? जीव और शिव में तो कोई पार्थक्य नहीं फिर भी जीव मानता नहीं। मंगलमय के राज्य में जीव यौवन अवस्था में काम, क्रोध आदि के अधीन होकर पाप पुण्यात्मक विविध कर्मों का आचरण करता है। आहा! जीव देह के भोग के निमित्त ही समस्त कर्मजंजाल में अपने को

डालता है। देह तो आत्मा से विभिन्न है। स्वयं आत्मा तो कुछ भी नहीं भोग करती। यदि आत्मा भोग करती हो तो फिर पाप पुण्य का भागी किसे माना जाय?"

बाबा की योग मार्ग में उन्नति देखकर भृगुराम स्वामी ने उनपर सन्तुष्ट होकर उन्हें एक अद्भुत शक्ति सम्पन्न 'हरिहर' नामक बाणलिंग उपहारस्वरूप दिया था। यह बाणलिंग इतना अधिक तेजो-विशिष्ट था कि सिद्ध ब्रम्हचारी एवं शक्तिशाली योगी को छोड़ करके दूसरा कोई व्यक्ति उसकी ओर एकाग्र दृष्टि से ताकते हुए तनिक देर भी कर्म के आसन पर स्थिर भाव से बैठा नहीं रह सकता था। योगमार्ग में किसने कितनी उन्नति की है इसकी परीक्षा इस बाणलिंग के द्वारा हो जाती थी। इस लिंग में एक और विशेषता यह थी कि दिनभर में भिन्न-भिन्न समयों में बदल-बदल कर उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्णों का विकास दिखाई देता था। केवल इतना ही नहीं, जो कोई साधक इसका आश्रय लेकर क्रिया करने बैठता था, उसे इस लिंग के भीतर इतने अपूर्व भाँति-भाँति के व्यापार दिखाई पड़ते थे कि जिनकी कोई गिनती नहीं। यह सिद्ध लिंग था। सिद्धिलाभ के समय बहुत काल तक यह बाबा के मस्तक के अन्दर सुरक्षित था। पश्चात् जब वापस करने का समय आया तब पूज्यपाद भृगुराम स्वामी सदा काल के लिए वह उनको दे देने के लिए उद्यत हुए। यह सुनकर के आश्रम में एक बिचित्र कानाफूसी प्रारम्भ हो गयी। आश्रमवासी योगीगणों में से कोई-कोई इस बात का प्रतिवाद करने लगे। उन लोगों ने कहा यह बाणलिंग तो आश्रम की सार्वजनीन सम्पत्ति विशेष है, इसके द्वारा जबकि बहुत से साधकों का उपकार होता रहता है तो इसे आश्रम में ही रखना चाहिए। व्यक्तिगत भाव से एक जनको दे डालना उचित नहीं है। किन्तु भृगुराम स्वामी तो अतुल्य प्रतापशाली। वे इस प्रकार दूसरों के मतामत से चालित होने वाले कब थे। उन्होंने अग्रदर्शिता से जो कुछ एकबार कह दिया, फिर उसे करके ही मानते थे। उन्होंने साथ ही साथ उन योगीवृन्द से कहा—"भाई देखो मैं स्वयं

अपनी ओर से विशुद्धानन्द को यह बाणलिंग देने को प्रस्तुत हूँ, तब इसमें कलह वा अशांति का कोई कारण नहीं। निःसन्देह ठीक पात्र समझ कर ही यह उनको दिया जा रहा है। यह बात ठीक है कि उन्हें दे देने के बाद फिर यह बाणलिंग आश्रम में नहीं रहेगा किन्तु इससे आप लोग कदापि दुःखो न हों। आगे इससे बहुत बड़ा कार्य होना है। निकट भविष्य में इस लिंग को बंग देश में एक विशेष स्थान में स्थापित होना है। फिर जिसकी इच्छा हुआ करेगी, वहाँ पहुँचकर इसकी पूजा आदि कर सकेगा। योगी के लिए तो देश दूरी का व्यवधान कोई चीज नहीं है।"

यह कहकर वे अपने गुरुदेव के पास जाकर उपस्थित हुए और भक्ति विनीत अभिवादन करके समस्त वृतांत उनसे निवेदन करते हुए बोले—"गुरु देव मैं आश्रम के सिद्ध बाणलिंग को आज कल्याण—भाजन विशुद्धानंद की तपस्या से संतुष्ट होकर उन्हीं के हाथों में सौंपने को प्रस्तुत हूँ। मैं जानता हूँ वे ही एकमात्र इस असाधारण वस्तु को धारण करने के लिए योग्य पात्र हैं। आप आशीर्वादपूर्वक इसमें अपनी सम्मति प्रदान करें।" गुरुदेव ने हर्ष पूर्वक आशीर्वाद के साथ अपनी सम्मति प्रदान कर दी। बाबा को जब वह बाणलिंग प्राप्त हुआ, उन्होंने गुरुदेव के आदेशानुसार उसे फिर से अपने मस्तक के भीतर स्थापित कर लिया। केवल क्रिया तथा पूजा के समय मस्तक के अन्दर से मुख आदि किसी द्वार से बाहर निकाल लेते थे। तदनन्तर क्रिया समाप्त होते ही उसे पुनः यथास्थान रख लेते थे। इस लिंग के अतिरिक्त दूसरा कोई भी शिवलिंग बाबा की क्रियाकालीन प्रकाशमान तीव्र तेजो-राशि को धारण करने में समर्थ नहीं था। उस प्रकार की चेष्टा भी कई बार की गयी। क्रिया के समय किसी साधारण लिंग की ओर स्थिर दृष्टि से निरी-क्षण करने लगे कि बाबा के तीव्र तेज से वह लिंग फटकर चूर चूर हो जाता था इस प्रकार जब कुछ दिन बीत गये, तब पूज्यपाद भृगुराम स्वामी ने बाबा के जन्म-स्थान बण्डुल-ग्राम में यह बाणलिंग स्थापित करने को कहा और तदर्थ मन्दिर, आश्रम एवं गुहा निर्माण करने का आदेश किया। बाबा का

इस सम्बन्ध में पहले दूसरा विचार था। रेलवे लाइन के पास शक्तिगढ़ नामक स्थान में आश्रम-स्थापन करने की उनकी इच्छा थी परन्तु गुरुआज्ञा अलंघनीय समझकर वे तदनुसार व्यवस्था करने में जुट गये। इस लिंग-स्थापना का पूरा इतिहास अतिशय अद्भुत है। वे विचित्र बातें यहाँ पर उल्लेखित करने की आवश्यकता नही है। अभी उसके प्रकाशन का समय भी नहीं आया। अस्तु ठीक अचूक मुहूर्त पर बण्डुल ग्राम में 'बण्डुलेश्वर' नाम से इस शिवलिंग की स्थापना की गयीं। मन्दिर, गुहा आदि विधिपूर्वक आदेशानुसार ही निर्माण किये गये। जिस स्थान पर मन्दिर की रचना हुई है, उस जगह में खोदते समय भूमि के अन्दर एक गड़ा हुआ त्रिशूल पाया गया। पूज्यपाद भृगुराम स्वामी ने पहले ही इस संबंध में सकेत दे रखा था। बंडुलेश्वर की स्थापना के फलस्वरूप आगे बण्डुल ग्राम का माहात्म्य किस प्रकार बढ़ेगा इस संबंध में बहुत सी बातें भविष्यवाणी के रूप में उन्होंने बतलायी थीं सचमुच बण्डुलेश्वर शिवलिंग की महिमा अवर्णनीय है। जो कोई कर्मी है, यदि वह कुछ समय के लिए उसके पास स्थिर भाव से बैठेगा, वह अवश्य ही उसके अनुपम माहात्म्य का परिचय पायेगा। योग और मंत्र साधना के लिए ऐसा योग्य अनुकूल स्थान कम देखने में आता है।

बंडुलेश्वर की पावन प्रतिष्ठा हो चुकने पर बंडुल में प्रत्येक वर्ष महा शिव रात्रि के समय खूब समारोह के साथ उत्सव मनाया जाने लगा। देश-देशान्तर से भक्त और शिष्यगण वहाँ पर पधारते और उत्सव में योगदान करते। शंकर भगवान की महिमा के कीर्तिगान में तथा नाना प्रकार के निर्दोष आनन्द-रसास्वादनों में अपूर्व ढंग से सबका समय कट जाता था। भक्त मंडली के परस्पर मिलन के द्वारा उत्पन्न अनिर्वचनीय निर्मल आनन्द के प्रकाश में इस मंगल उत्सव के प्रसंग की शोभा और भी अधिक बढ़ जाती थी।

गुष्करा में ही बाबा के जीवन का अधिकांश समय बीतता था। इसी स्थान में वे स्वयं साक्षात् महादेव-सदृश पूजे जाते थे। गृही, संन्यासी, रोगी, भोगी और योगी उनके प्रति श्रद्धा न व्यक्त करे, ऐसा कोई भी व्यक्ति वहाँ पर

नहीं था। गुष्करा में रहते थे, तब पूज्यपाद बाबा के कितने कितने विभूति चमत्कार प्रकट हुए हैं, उनकी संख्या बताना कठिन है। न जाने कितने उद्देश्य लेकर कितने लोग उनकी परीक्षा करने आये, किन्तु परीक्षा लेने में वे लोग अपने फन्दों में स्वयं ही फँसते चले गये। अनेक व्यक्ति विरुद्ध भाव लेकर आये और आते ही उनके पास विरोध भूल कर श्रद्धानत होकर उनके शिष्य बन गये, इस प्रकार अपने को धन्य समझने लगे। ऐसे अनेक ने उनके चरणों में जीवन की चरम सिद्धि का सोपान प्राप्त किया। भगवान तो सदा मंगलमय हैं, इसीलिए यदि कोई शत्रुभाव से भी उनकी आराधना करता है तब भी उस का मंगल ही होता है। उसी प्रकार भगवद्भक्त और प्रकृत महापुरुष के निकट संस्पर्श में आने पर उनके सत्संग के प्रभाव से असाधु भी साधु बन जाता है। क्योंकि—

अमृत कुण्ड में गिरी अगर ।।
मक्खी भी बन गयी भ्रमर ।।

अचिन्त्य वस्तु की शक्ति और महिमा तर्क और विचार से परे है। तीर्थ स्वामी अवस्था के बाद बाबा ने जो अद्भुत आध्यात्मिक उन्नति दिखायी, उससे गुरुदेव उनपर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और उन्हें 'परमहंस' उपाधि से विभूषित किया। आश्रम के नियमानुसार उनको परीक्षा भी देनी पड़ी थी। परीक्षक थे स्वामी निमानन्द परमहंस। किन्तु परीक्षा-ग्रहण तो केवल आश्रम का विधान पालन मात्र। दूध और जल एकत्र मिला हुआ रहने पर जिस प्रकार हंस दोनों को पृथक् कर केवल दूध को ही ग्रहण कर लेता है उसी भाँति आत्मा तथा अनात्मा का विवेक साधन कर लेने से जिस योगी में आत्मा—भिनिवेश पूर्ण चरितार्थ हो जाता है वह "हंस" नाम से गिना जाता है। तदनन्तर परमात्मा की उपलब्धि होने पर हंस भाव के ऊर्ध्व में 'परमहंस भाव' का जागरण होता है। परमहंस भाव है द्वन्द्वातीत अवस्था। इसी

अवस्था में जागतिक द्वन्द्व शान्त होकर निर्द्वन्द्व अद्वय पद प्राप्त हो जाता है। इस अवस्थामें प्रकृति पर स्वामित्व प्राप्त होता है किन्तु अस्थायी रूपसे। आत्माभिमान जब पूर्ण विगलित होकर जगत्स्वामी के साथ अपना योग स्थापित हो जाता है—अर्थात् जब परमहंस पद प्राप्त होता है तब प्रकृति वस्तुतः ही स्थायी रूप से आयत्त हो जाती है, इतना ही नहीं अपितु निज अंगीभूत हो जाती है। तब फिर अभिमान का लेश भी नहीं रहता। केवल एक शुद्ध बोध मात्र रह जाता है।

—०✻०—

दशम परिच्छेद

परमहंस उपाधि पा चुकने पर कई एक वर्ष बाद बाबा ने गुष्करा ग्राम छोड़ दिया और वे वर्धमान में राणीगंज बाजार में मकान किराये पर लेकर रहने लगे। यहाँ पर वे लगभग दो वर्ष तक रहे। बाबा जब वहाँ निवास करते थे, तब एक दिन एक अद्भुत घटना घटी। किसी के कहने में आकर एक आदमी बाबा के सन्ध्या-गृह में चुपके से घुस गया और अन्दर छिप कर बैठ गया। उसका उद्देश्य यह था कि जरा देखें बाबाजी किस प्रकार क्रिया करते हैं और क्रिया करते समय कोई चमत्कारिक व्यापार घटित होता हो तो उसे जान लें। इस आदमी को जिस व्यक्ति ने इस कार्य के लिए नियुक्त किया था वह अध्यात्म जगत की बातें कतई नहीं जानता था, इसमें कोई सन्देह नहीं। बाबाजी की परीक्षा करना और उनकी साधनापद्धति जान लेना यही उसका उद्देश्य था। जो भी हो कर्म का फल तो अवश्यम्भावी। बाबा अपने समय पर गृह में वायु की क्रिया करने लगे। बाह्य वायु को आकर्षित करके प्रक्रिया विशेष द्वारा उसे जब स्तम्भित कर दिया, तब पूरे घर की वायु अवरुद्ध हो गयी। जो आदमी अज्ञातभाव से घर के भीतर एक कोने में चुपचाप लुका बैठा था, बाबा के पूर्वोक्त प्रकार वायु आकर्षण के समय श्वांस-कष्ट से उसका कण्ठ रुकने लगा, तब बड़े जोर से वह एक बारगी चिल्ला उठा—"बाबा रे!" उसकी चीत्कार—ध्वनि सुनकर बाबा की दृष्टि उधर गयी। उस आदमी को देखते ही सारा व्यापार वे समझ गये। किन्तु उसे न कहकर उन्होंने तुरन्त वायु का साम्य स्थापित कर दिया और उसके प्राण बचाये। बाद में उसके इस दुष्कर्म के संबंध में उसे लज्जित करते हुए डाँटकर कहा—"देखो, अब कभी इस प्रकार से किसी योगी की परीक्षा करने का दुःस्साहस मत करना, नहीं तो भयंकर विपद् में पड़ोगे। तुमपर मेरी तत्काल दृष्टि पड़ गयी, इसलिए तुम बच गये वरना प्राणरक्षा तो दूर रही, कभी-कभी शरीर

तक जलकर भस्म हो जाने की आशंका रहती है। योगीगण गुप्त रूप से कब क्या कार्य करते हैं, यह सब वाह्य-जगत वाले लोग यदि जानने की चेष्टा करें तो वह अनुचित होगा। यदि कदाचित तुम आज के अपराध में दुर्वासा जैसे प्रकृति–विशिष्ट योगी के क्रोध के पाले पड़े होते, तो आज तुम्हारा सर्वनाश हो गया होता। अच्छा, जाओ। ऐसा कार्य अब कहीं कदापि मत करना।"

एक समय की बात है संध्या समय में बाबा आन्हिक करने बैठ चुके थे। पूजागृह के कपाट यों ही टिकाये हुए थे, क्रिया में बैठने के पूर्व द्वार पूर्णतया बन्द कर लेने को भूल गये थे। पर्याप्त समय बीत चुका किन्तु आज बाबा फिर भी बाहर नहीं निकल रहे हैं क्या बात है? और दूसरे दिनों में जिस समय तक वाहर आ जाया करते थे वह बेला भी टल गयी, तब भी द्वार न खुला। आश्रम स्थित भक्तमण्डली चंचल हो उठी। कोई मन में सोचने लगे, हो सकता है वे आज किसी गुरुतर कार्य में लगे हुए हों। कोई अनुमान करने लगे कि सम्भव है किसी विशेष प्रयोजन से योगशक्ति बल से वे कहीं दूर प्रदेश में चले गये हों, वहाँ से लौट आने में विलम्ब हो। क्योंकि इस प्रकार की घटनाएँ बहुत बार हो चुकी हैं और अब भी होती रहती हैं। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि दरवाजा बन्द करके वे उपासना-गृह के अन्दर अपने आसन पर बैठ गये, भीतर से दरवाजा जैसा का तैसा बन्द ही रहा और बाहर से खबर आयी कि अमुक दूर देश में अमुक स्थान में अमुक भक्त को दर्शन व उपदेश देकर बाबा वापस आ रहे हैं। कभी–कभी तो एक ही समय में कई जगह उनको उपस्थित पाया गया है। योगी की गतिविधि का संधान भला कौन रख सकता है? आज न जाने क्या बात है कि हमेशा से बहुत ज्यादा रात बीत चुकी, तब भी गृह द्वार नहीं खुल रहा है। इस प्रकार लोग अनेक प्रकार की कल्पनाएँ कर रहे थे। इतने में उधर अकस्मात एक जन[1] शिष्या महिला ने पूजागृह के द्वार पर जाकर

१–यह शिष्या महिला थीं अलीपुर कोर्ट के डेप्युटी सुपरिटेण्डेण्ट आफ पुलिस श्रीयुत प्रियनाथ दे महाशय की पत्नी।

कपाटों में धक्का लगाया। सांकल नहीं लगी थी अतः द्वार तुरत खुल गया। खुलने के साथ सामने घर के अन्दर जो अपूर्व दृश्य नजर आया, उसे देखते ही शिष्या के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। चकित हो वह क्या देख रही है—कि बाबा एक नन्हें से शिशु बने हुए, पैर ऊपर किये उताने लेटे हैं और अपने पैर को अपनी नन्हीं-नन्हीं उँगलियों से पकड़े हुए मुख से चूस रहे हैं। इस अद्भुत प्रत्यक्ष दर्शन के समय बांकुड़ा अयोध्या निवासी डाक्टर श्रीयुत चन्द्रभूषण वन्द्योपाध्याय एल० एम० एस० प्रभृति कई व्यक्ति वहां पर उपस्थित थे।

वर्धमान में क्षेत्रगोपाल वन्द्योपाध्याय नामक एक ब्राम्हण पंडित फलित ज्योतिष का व्यवसाय करते थे। वे कभी कभी बाबाजी के पास राणीगंज वाले मकान में आया करते और थोड़ी देर तक बातचीत करके वापस चले जाते थे। बाबा पृथक् आसन पर बैठे रहते थे। दर्शक और भक्तमंडली के लिए पृथक् आसन बिछा रहता था। क्षेत्रबाबू अपनेआप को बहुत गुणी पंडित समझते थे। वे सर्वसाधारण आसन पर सबके साथ बैठने में कुछ संकोच करते थे। संभवतः इसलिए वे पहले दिन जब आये, तुरन्त बाबा के आसन पर ही एक तरफ एक साथ बैठ गये। पहले तो बाबा ने कुछ न कहा किन्तु आगे चलकर जब दूसरे दिन भी उसी प्रकार समवेत एक आसन पर बैठने लगे, तब बाबा ने उन्हें भद्र भाषा में मना करके पृथक् आसन पर बैठने को कहा। इस समुचित निषेध एवं सुयोग्य सुझाव की प्रक्रिया को क्षेत्र-बाबू ने अपना अपमान समझ लिया और वे तुरन्त बोल खड़े हुए—"बाबा आप भी ब्राम्हण हैं तो मैं भी ब्राम्हण हूं। मेरे भी अनेक यजमान और शिष्य हैं, समाज के अन्दर मेरी भी क्या कम प्रतिष्ठा है? मुझे भी लोग मानते हैं। इसके अलावा मैं आप से अधिक वयोवृद्ध हूँ। तब फिर आपने मेरे प्रति अभी जो बर्ताव किया, उसे मैं अत्यन्त अपमानजनक मानता हूं।"

सुनकर बाबा स्थिर गंभीर भाव से कुछ हँसते हुए बोले—"प्रिय ब्यानर्जी महाशय—यथार्थ ब्राम्हण कौन? क्या आप जानते हैं? यदि जानते होते तो आप ऐसी बात क्यों करते? आप खाली कुल-परंपरागत ब्राम्हणत्व

के अहंकार-मद में फूले हुए हैं। यदि आप स्वयं यथार्थ ब्राम्हण होते तो संमान पाने के लिए इतने लालायित न होते। सचमुच जो ब्रम्हज्ञ ब्राम्हण, वह क्या कभी सम्मान की प्रत्याशा करेगा। वह ब्रम्हतेज से स्वयं तेजस्वी, स्वयं महिमान्वित। उस प्रकृत ब्राम्हण के लिए ये अन्यान्य गौरव अतिशय तुच्छ प्रतीत होते हैं। ब्राम्हण तो इन्द्र आदि देवगणों के बड़े बड़े पदों को भी तृणवत् देखता है। शास्त्र में है—स्वयं नारायण भगवान ने ब्राम्हण की चरणधूलि को अपने वक्षस्थल में धारण किया था।" इस पर क्षेत्र बाबू पुनः बोल पड़े—"वर्तमान समय में क्या अब वैसे ब्राम्हण हैं? वह जमाना बीत चुका, वह ब्रम्हतेज भी लोप हो गया। उस युग में ब्राम्हण के नेत्र से अग्नि जल उठती थी। आजकल वैसी क्षमता किसी ब्राम्हण में नही हैं।"

बाबा ने कहा—"हाँ, आप सत्य कह रहे हैं। काल के प्रभाव से वर्तमान समय में शास्त्रकथित वैसे लक्षणसम्पन्न ब्राम्हण बहुत दुर्लभ हो रहे हैं किन्तु यह मत समझिये कि सब लुप्त हो गये। आज भी हैं। वर्तमान समय में भी जो कोई ब्राम्हणोचित आचार और साधना का अनुष्ठान सचाई के साथ करते जाते हैं उनमें न जाने कितनी इस प्रकार की अद्‌भुत शक्तियाँ आज भी देखने में आती हैं। केवल नेत्र से ही क्यों, ब्राम्हण के सभी अंगों से तेज बाहर प्रकट होता है। ब्राम्हण का देह असाधारण तेज सम्पन्न!"

इतना कहकर बाबा ने क्षेत्रबाबू की ओर किंचित् अपांग दृष्टि निःक्षेप किया। क्या ही आश्चर्य! दृष्टि पड़ते मात्र तत्क्षण उन वृद्ध सज्जन की चादर में आग लग गयी। पंडितजी ने तुरन्त ही चादर को दूर फेंक दिया। कुछ ही मिनटों में चादर पूरी जलकर भस्म हो गयी। क्षेत्र बाबू अवाक् होकर देखते रह गये। अपने जीवन में केवल पहली बार उन्होंने यह चमत्कार देखा। किस प्रकार इतनी दूरसे केवल नयन-रश्मि द्वारा ब्रम्हतेज से अग्नि प्रज्वलित होकर वस्तु जलकर खाक हो गयी। आज ही उन्होंने सचमुच जाना कि प्रकृत ब्राम्हण की क्षमता कितनी अधिक होती है।

———

एकादश परिच्छेद

दादा-गुरुदेव श्री भृगुराम परमहंस स्वामी के आदेश से वर्धमान में एक आश्रम निर्माण करने का प्रस्ताव हुआ। इस प्रस्ताव को कार्यपरिणत करने में कुछ समय अवश्य ही लगा किन्तु जितना विलम्ब होने की आशंका थी, उतना नहीं हुआ। वर्धमान रेलवे स्टेशन से थोड़ी ही दूरी पर यह आश्रम स्थापित है। बाबा के गुरुदत्त नाम के अनुसार इस का नाम "विशुद्धाश्रम" रक्खा गया है। आश्रम की प्रतिष्ठा हो चुकने पर उसके परिचालन के लिए दादा गुरुदेव ने कई एक सुन्दर संरक्षक नियम बना दिये। उन्हीं नियमों के अनुसार अब भी आश्रम का संचालन हो रहा है। साधारण जानकारी के लिए उक्त नियमावली में से कुछ नियम नीचे उद्धृत कर रहे हैं। यथा—

(क) शिष्यगण योगकर्म की अवहेलना न करें, इस बात की सावधानी रखनी होगी और उनमें से जब जिसे जो विषय जानने की अथवा देखने की इच्छा होगी, तुरन्त दिखा देना या सुना देना होगा। यदि योग्य पात्र न हो तो उसे प्रत्यक्ष दिखाना नहीं, केवल समझा देना।

(ख) शिष्यगणों के साथ योग-संबंधी व शास्त्र संबंधी व किसी गोपनीय विषय पर जब चर्चा हो, उस समय वहाँ पर अन्य कोई भी न रहना चाहिए, यहाँतक कि उपयुक्त शिष्य को छोड़कर दूसरा कोई शिष्य भी वहाँ न रहने पाये। गुह्य विषय व्यक्त होने से समूह को क्षति होगी, ऐसा जानना।

(ग) विषय-कार्य अथवा विषय संबंधी कोई कार्य लेकर आश्रम में कोई भी न आये वा न ठहरे।

(घ) तुम योग-ज्योतिष के द्वारा किसी के भी संबंध में कोई विषय न देखोगे, न कहोगे। यहाँतक कि तुम अपने आत्मीयों के संबंध में भी कहना नहीं व देखना नहीं। यदि फिर भी देखोगे व बतलाओगे तो तुम्हारी समस्त क्रिया ध्वंस होगी।

(ङ) किसी के भी किसी रोग या किसी अन्य संबंध में इच्छा-शक्ति के प्रयोग के द्वारा कार्य नहीं करना। यदि करोगे तो तुम इसे अपनी क्रिया के ध्वंस का कारण जानना।

(च) आश्रम में आकर कोई संन्यासी, योगी, भैरवी, ब्रह्मचारी जो कोई कर्मी होंगे, वे जबतक उनकी इच्छा होगी, ठहरे रह सकेंगे। उनके संबंध में सभी को ध्यान रखना होगा। यदि कर्मी अथवा यथार्थ भक्त न हो तो आश्रम में नहीं ठहर सकेगा।

(छ) कोई स्त्रीगण आश्रम में सहसा न आने पाएँ। यदि आ भी जायें तो आश्रम के भीतर ठहरने नहीं पायेंगी। शिष्यगणों की स्त्रियाँ आदि सब समय आ सकती हैं परन्तु एक प्रहर या अधिक से अधिक एक दिवस ठहर सकेंगी। एक मास से लेकर छः वर्ष तक के पुत्र, पुत्री लेकर के कोई भी आश्रम के अन्दर आने नहीं पायेगा। यदि आये तो सन्तान को अन्यत्र रखकर आवें एवं पुनः तुरन्त लौट जायें।

(ज) आश्रम में अपरिचित व्यक्ति व स्त्रीगण आने पर रात्रि में ठहरने नहीं देना होगा।

इन सब नियमों का विधान श्रीमद्भृगुराम परमहंस देव ने बनाकर दिया। नियमों को भली प्रकार पढ़ने से यह ठीक-ठीक जाना जा सकता है कि आश्रम के उद्देश्य—साधन करने के पक्ष में वे कितने उपयोगी हैं।

ऊपरी दृष्टि से देखने पर ऐसा लग सकता है कि गुष्करा का व्यापक सम्पर्क छोड़कर बाबा का चला आना और आश्रम निर्माण करके उसमें स्थायी रहने लगना मानों कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। एक भाव से भावित एक ही पथ के पथिक साधकगण जिसमें संघ—बद्ध होकर एक दूसरे के अनुकूल रहते हुए जीवन के पथ पर अग्रसर हो सकेंगे, उसमें सहायता देने के लिए आश्रम की बहुत उपयोगिता है। आश्रम एक केन्द्र स्वरूप है। आश्रम के सहारे सम्प्रदाय विशेष का अध्यात्म—राज्य गठित होकर क्रमशः प्रसारित होता है। प्राचीनकाल में एवं मध्य युग में, भारतवर्ष

तथा पाश्चात्य देशों में धर्म–प्रचार का इतिहास देखने पर यह स्पष्ट मालुम होगा। और एक बात यह है कि जो सब शिष्यगण यथार्थ कर्मी हैं उनको विशेष अवसरों पर साथ में रखकर अनेक गुह्य तत्व अच्छी प्रकार समझा देना होता है और योग्य अधिकारी होने पर संशय निवारणार्थ बहुत से विषय प्रत्यक्ष दिखाना आवश्यक हो जाता है। अवस्था के अनुरूप व्यष्टि भाव से या समष्टि भाव से इस प्रकार शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था प्रचलित है। अथच धर्म का अन्तरंग तत्व सभी बाह्य जगत के पास प्रकाशित करना उचित नहीं होता। वैसा करने से अनेक प्रकार से अनिष्ट होता देखा गया है। इसलिए शिष्यवृन्द के एकत्रित होने एवं ठहरने के लिए एक स्थायी केन्द्र स्थापित हुए बिना इस प्रकार का कार्य सुन्दर सुरक्षापूर्ण ढग से होना सम्भव नहीं। वर्धमान में आश्रम स्थापित करने का यह एक प्रधान कारण था। इस प्रसंग में उपरोक्त (क) (ख) और (ग) नियम द्रष्टव्य हैं।

योग के द्वारा प्राप्त अलौकिक शक्ति का प्रयोग लौकिक कार्यों के लिए करने का निषेध है। शास्त्र में तो इसके लिए बारम्बार मना किया है। एक बार में तीव्र भाव से इच्छाशक्ति का प्रयोग करने पर जितनी हानि होती है, उसे पुनः पूरी करने में बहुत समय लग जाता है। देह तो प्रायः ही विकारों से भरा तथा रोगों से घिरा, उसके पीछे रोग निवारण जैसे मामूली काम के लिए महती इच्छाशक्ति का प्रयोग करना अवैध माना गया है। इच्छाशक्ति द्वारा तो मुहूर्त मात्र में सृष्टि और संहार तक हो सकते हैं। यथार्थ योगी की इच्छाशक्ति को निष्फल करने की क्षमता त्रिभुवन में भी किसी में नहीं।

रोग-निवारण जैसा छोटा कार्य इच्छाशक्ति द्वारा होने में तो पलक मारने की भी देर न लगे। किन्तु इन सब अन्य उपायसाध्य कामों के पीछे इच्छाशक्ति का प्रयोग करना युक्तिसंगत नहीं। (ङ) चिन्हित नियम में

स्पष्ट निषेध[1] किया है कि लौकिक कामों के लिए इच्छाशक्ति का प्रयोग करना उचित नहीं। योग-ज्योतिष, इच्छाशक्ति, देवज्योतिष किंवा अन्यान्य जो अलौकिक शक्तियाँ हैं, उन सभी के प्रयोग करने के विषय में यही नियम है। गुरुदेव की अनुमति से इन सबका प्रयोग करने में कोई हानि की सम्भावना नहीं। और दूसरे नियमों का उद्देश्य यही है कि आश्रम में शृंखला बनी रहे, विशुद्धता की रक्षा हो एवं विषय–दुर्भावों पर नियन्त्रण कायम रहे। आश्रम के भीतर विषय–चर्चा करना या वैषयिक हेतु पूर्ति के लिए आश्रम में प्रवेश करना यह बात आश्रम की मूल नीति के विरुद्ध है।

१—इच्छा शक्ति के ऐसे प्रयोग के सवंध में अनेकों के मन में नाना प्रकार की शंकाएँ उठ सकती हैं। इसलिए इस विषय पर संक्षेप में यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक मालुम होता है। कोई प्रश्न कर सकता है—"तब क्या लौकिक कार्यों के लिए इच्छा का प्रयोग योगीगण करते ही नहीं।" ऋषियों एवं महापुरुषों के जीवन–चरितों को देखने से पता चलता है कि उन सबके जीवन अलौकिक घटनाओं से परिपूर्ण हैं। इन घटनाओं में अविश्वास करने का कोई कारण नहीं। हाँ स्थल विशेष में साम्प्रदायिक व व्यक्तिगत कारणवशतः महापुरुष गणों के जीवन चरित विकृत करके लिखे हैं, किन्तु सर्वत्र ही ऐसी भूल है, सो बात नहीं। अतएव उन सब अलौकिक सत्य घटनाओं का कारण क्या होगा, इसका निर्णय करते समय बहुत से लोग यहाँ इच्छाशक्ति के प्रयोग को ही कारण समझ लेते हैं। वस्तुतः बात दूसरी ही है। जो प्रकृत योगी है जो अपनी व्यक्तिगत इच्छा को ईश्वरीय इच्छा के साथ संयुक्त करके अभिमान से रहित हो चुका है, ऐसा वह युक्तयोगी कभी भी स्वार्थ साधन के लिए इच्छाशक्ति का प्रयोग कर ही नहीं सकता। ज्ञानी पुरुष परमार्थ की हानि करके स्वार्थ के आकर्षण में कदापि आकर्षित नहीं हुआ करता। जो परमात्मा के साथ युक्त हो जाते हैं, उनकी पृथक् इच्छा नहीं रहती। उसी एकत्व की अवस्था में यदि किसी में इच्छाशक्ति का स्फुरण हो जाय तो उसे ईश्वरीय–इच्छा ही मानना पड़ेगा। इस स्फुरण के लिए उनपर

शुद्ध एवं पवित्र हुए बिना देवमन्दिर में जैसे प्रवेश करना निषिद्ध है, उसी प्रकार आश्रम में भी प्रवेश करने के पहले मन से वैषयिक कामना यथासम्भव दूर हटा कर तब जाना उचित है। यदि ऐसा न किया जाय तो स्थान का प्रभाव धीरे-धीरे मलिन होता चला जाता है।

आश्रम प्रतिष्ठित हो चुका उसकी परिचालना के लिए ऐसी नियमावली भी तैयार कर दी गयी। आश्रम कार्य भी यथाविधि चलने लगा। वण्डुल आश्रम स्थापन हो चुकने पर एकदिन पूज्यपाद भृगुराम स्वामी ने बाबा को लिखा था—"आश्रम के अधिकारी तुम नहीं हो, तुम्हारे शिष्यगण हैं।" वर्धमान आश्रम के सम्बन्ध में भी यही आदेश ज्यों का त्यों कायम रहा। बाबा निष्काम तथा ममत्व-वर्जित होकर आश्रम के अधिष्ठाता बने रहे।

कोई नैतिक दायित्व नहीं। कारण, इस विशुद्ध अवस्था में वे ईश्वरीय सत्ता के साथ अभेद्य संबंध में स्थित होते हैं। किन्तु हाँ, जिस समय ये लोग युक्त अवस्था में स्थित नहीं होते, बल्कि युंजान अवस्था में प्रयत्नवान रहते हैं, उस समय अवश्य ही क्षीण होने पर भी व्यक्तिगत इच्छा उनमें जाग उठ सकती है। इसी अवस्था को उद्देश्य करके उपरोक्त (ङ) विहित नियम बनाया है। समस्त विधि-निषेधों का हेतु इसी अवस्था को लेकर है। इच्छा के माने कामना विशेष ही तो। यह कामना विशेष अध्यात्म जगत में जिस प्रकार सर्वप्रधान मित्र का काम करती है, उसी प्रकार कभी-कभी भारी दुश्मन का भी काम कर सकती है। परमार्थ के लिए कामना करना सर्वमंगल का हेतु है, विषय के लिए कामना करना सब अनर्थों का मूल है। परमार्थ भिन्न जो कुछ है सभी स्वार्थ कहलाता है। उसी का नाम है विषय। विषय-कामना जागते ही चित्त विषय में लग जाता है। उससे चित्त में विषय दोष लिपट जाता है और चित्त विक्षिप्त हो जाता है। किन्तु आत्मा सम्बन्धी कामना जागने से चित्त-विक्षेप दूर होकर एकाग्रता स्थापित हो जाती है। अन्त में चित्त निरोध होकर विशुद्ध चैतन्य का साक्षात्कार होता है।

इसके कई वर्ष बाद पत्नी का शरीरान्त हो गया, किन्तु इससे वे तनिक भी विचलित नहीं हुए। आत्मीय स्वजनों की मृत्यु से भी कभी किंचित् मात्र भी वे कातर नहीं हुए। उनकी जननी, कन्या प्रभृति परलोकगामी हो चुकीं, तब भी उनका धैर्य, संयम और चित्त का उपशम निरन्तर अडिग ही बना रहा। इस प्रकार का अद्भुत आत्मसंयम देखने में नहीं आता।

शास्त्र का वचन है—"तरति शोकमात्मवित्।" अर्थात् जिनको आत्म-ज्ञान प्राप्त हो चुका है, उन्हें शोक अभिभूत कर नहीं सकता, वे शोक, मोह से पार हुए चिर आनन्द और परम शान्ति का उपभोग करते हैं। पूज्य बाबा के जीवन में यह सत्य अक्षर—अक्षर करके चरितार्थ हुआ देखने में आया। यहाँ के जीवन-मरण दोनों जिसके लिए समतुल्य हो चुके, वही एकमात्र जन्म मृत्यु के ऊर्ध्व में शाश्वत धाम में स्थितिलाभ करने में समर्थ होता है। पूज्यपाद भृगुराम स्वामी ने लिखा था—"सभी लोग क्रिया करें तो अमरत्व प्राप्त होगा। वास्तव में कोई मरता नहीं, कोई जीता नहीं। मरना जीना तो बाहरी स्थूल का खेल मात्र।"

वर्धमान में "विशुद्धाश्रम" की स्थापना होने के बाद शिष्य संख्या बढ़ने के साथ—साथ क्रमशः कई स्थानों में उसी प्रकार के आश्रम स्थापित हो गये। झालदा में "विशुद्ध निवास", पुरी क्षेत्र में "विशुद्धानन्द धाम" तथा वाराणसी में "विशुद्ध-कानन" प्रतिष्ठित किया गया। कलकत्ता, वैद्यनाथ धाम, धनबाद इत्यादि विभिन्न स्थानों में आश्रम न होने पर भी उनके अनुरूप आवास स्थानों की व्यवस्था हुई। वहाँ पर आसपास के भक्त तथा जिज्ञासु-गण[1] सुविधापूर्वक बाबा के पास एकत्रित हो सकते थे।

१—झालदा आश्रम स्थल बंगाल में मानभूमि जिले के अन्तर्गत है। यह स्थान पुरुलिया से तीस मील दूरी पर है। बंगाल नागपुर रेलवे नामक रेल लाईन पर झालदा स्टेशन विख्यात है। यहाँ के स्थानीय जमीन-दार श्रीयुत उद्धवचन्द्र सिंह महाशय एकजन बाबा के भक्त शिष्य थे।

वर्धमान आश्रम के भीतर श्री गोपाल तथा शिव प्रतिष्ठित किये गये हैं।

वण्डुल आश्रम में जैसे प्रतिवर्ष महाशिवरात्रि के समय विशेष समारोह के साथ उत्सव मनाया जाता है उसी प्रकार वर्धमान आश्रम में भी होता है। इसी उपलक्ष्य में दूर के तथा निकट के नाना स्थानों से आकर भक्त एवं शिष्यगण उत्सव में यथाशक्ति योगदान करने के लिए आश्रम में बहुसंख्या में उपस्थित होते थे। बाबा स्वयं विराजमान रहकर वहाँ की सब व्यवस्था कराते थे। महाशिवरात्रि है विशेष महत्वपूर्ण उत्सव। बहुत लोगों ने इस समय का अपूर्व प्रभाव प्रत्यक्ष अनुभव किया है। पूज्यपाद श्रीमद् भृगुराम स्वामी ने कहा है कि इस विशिष्ट समय में उनकी शक्ति की महिमा

उन्होंने झालदा आश्रम बनवा दिया। दूसरा पुरीधाम का आश्रम बनवाने का और व्यवस्था आदि के लिए रुपया लगाने का पूरा भार कलकत्ता हाइकोर्ट के वकील, बाबा के परम भक्त, श्रीयुत क्षेत्रगोपाल वन्द्योपाध्याय एम० ए० बी० एल० महाशय ने अपने ऊपर लिया था। यह आश्रम पुरी-जिला-स्कूल के समीप आर्म-स्ट्रांग रोड पर निर्मित किया गया। इसी प्रकार श्री काशीधाम में दो आश्रम स्थापित हुए। एक तो गंगा किनारे हनुमान घाट के पास दिलीप-गंज मुहल्ले में था। इसका नाम था "विशुद्धानन्द कुटीर"। बाबा के भक्तशिष्य कलकत्ता हाइकोर्ट के वकील, 'श्रीयुत सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय' एम० ए० बी० एल० महाशय तथा उनकी पत्नी दोनों ने एक मकान खरीद करके और उसमें प्रयोजन के अनुसार परिवर्तन एवं परिवर्धन करते हुए उसे वासोपयोगी आश्रम का रूप दे दिया था। काशी में द्वितीय आश्रम बनाया गया है—बनारस कैण्टून्मेण्ट रेलवे-स्टेशन के पास मलदहिया मुहल्ले के अन्दर एक बगीचे में। इसका नाम रक्खा "विशुद्धानन्द कानन"। बाबा की शिष्यमण्डली के सर्वसम्मिलित उद्योग के द्वारा यह बृहद् बगीचा एवं आश्रम खरीदना बनाना हुआ।

शिष्य वर्ग के बीच कोई न कोई शिष्य अवश्य ही अनुभव कर पायेगा। वस्तुतः वही घटित होता है। इसी उत्सव की तरह व्यापक भाव से न सही, फिर भी जन्माष्टमी के समय अच्छे समारोह के साथ वर्धमान आश्रम में भी उत्सव मनाया जाता है। इसके अतिरिक्त छोटे-छोटे उत्सव और कुमारी भोजन प्रभृति नाना प्रकार के नैमित्तिक उत्सव प्रत्येक मास में बराबर लगे ही हुए हैं।

———

द्वादश परिच्छेद

हिमालय के योगाश्रम में योग, विज्ञान, रसायन आदि विद्याओं की शिक्षा एवं आलोचना की जिस प्रकार व्यवस्था है, ठीक वैसी ही व्यवस्था छोटे ही रूप में सही, यहाँ पर सब लोगों के बीच में चालू करने की पूज्यपाद बाबा की इच्छा थी। इसीलिए श्री काशी-धाम के अन्दर "विशुद्धकानन" नामक आश्रम में एक 'शिक्षा-मन्दिर' और एक 'विज्ञान-मन्दिर' का निर्माण किया गया। यद्यपि 'विज्ञान-मन्दिर' का निर्माण कार्य पूरा हो चुका, तथापि इस मन्दिर के ऊर्ध्व-देश में नील-रक्तादि वर्णमय कांच का एक छोटा सा गृह-निर्माण करने का जो आयोजन था, वह अभी पूरा हुआ नहीं। कांच का यह गृह बनकर जब तक सब प्रकार से सुसज्जित नहीं हो जाता, तबतक सूर्य विज्ञान तथा अन्यान्य विज्ञानों के प्रयोगों की व्यवस्था सम्भव नहीं। एक इंच मोटे, सुबृहत्, स्वच्छ और विविध रंगों के अनेक कांच खण्डों द्वारा यह प्रयोग भवन निर्माण करना होगा। फिर सुवर्ण, रौप्य, ताम्र आदि धातुओं के मोटे तथा पतले तारों से समग्र मन्दिर छा देना होगा। उक्त सामग्री इकट्ठी हो जाने पर निकट भविष्य में विज्ञान मन्दिर का उद्दिष्ट कार्य प्रारम्भ हो सकना संभव है।

यह विज्ञान, जगत के और सब विज्ञानों का शिरोमणि है। इस सूर्य विज्ञान को जान लेने से जीवों के सभी अभाव दूर किये जा सकते हैं। इसके द्वारा जीव अपने जन्मकालीन उपादान अर्थात् व्यक्तिगत प्रकृति का आमूल परिवर्तन करके विशुद्ध अवस्था प्राप्त कर सकता है। विशेषकर भारतवर्ष का यह अपना निजस्व है किन्तु अपने ही देश से इस विज्ञान का लोप सा हो चला है। कल्पनातीत क्लेश सहन करके दुर्गम पर्वत—प्रदेश से इसे पुनः प्राप्त करके सुदीर्घकालीन साधना द्वारा पूज्यपाद बाबा ने इसे सिद्ध किया है। अतः ऐसी दुर्लभ विद्या उन्ही के साथ साथ पूर्ववत् पुनः विलुप्त हो जाय, ऐसा वे

कदापि नहीं होने देना चाहते। इस विद्या के प्रभाव से समस्त जगत का कल्याण हो यही है उनकी स्वाभाविक आकांक्षा ! इस विज्ञान की क्षमता असाधारण है, यहाँ तक कि अपरिसीम कहा जाय तब भी कोई अत्युक्ति नहीं। बाबा का कहना है कि योगशास्त्र में ऐसी किसी भी अलौकिक सिद्धि का वर्णन नहीं है जो अपेक्षाकृत सुगम उपाय से इस सूर्य बिज्ञान के द्वारा उपलब्ध न की जा सके। पातञ्जल-योग दर्शन का विभूति-पाद, शिव पुराणादि अन्य प्राचीन ग्रन्थ, तन्त्र शास्त्र, बौद्ध तथा जैन-शास्त्रों के योग संबधी ग्रंथ, सूफी और ईसाई योगीगणों की ग्रंथ माला आदि आदि यच्चयावत्त योगसाहित्य में वर्णित प्रत्येक व्यापार इस सूर्य विज्ञान के द्वारा सहज साध्य है। इसके अतिरिक्त इसकी रहस्यमयी क्षमता का तो कोई पारावार ही नहीं।

हम लोग वर्तमान युग में "विज्ञान" शब्द साधारणतः जिस अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, सूर्य विज्ञान ठीक उस जाति का विज्ञान नहीं है। यदि यह उस प्रकार का विज्ञान होता तो एक परम योगी जो कि अध्यात्म साम्राज्य के अधीश्वर पद पर आरूढ़ है वे इसकी ओर इतने अधिक आकर्षित नहीं हो सकते थे। "विज्ञान" शब्द से बाबा का सचमुच क्या तात्पर्य है, इसे इनके द्वारा लिखित कई एक पत्रों के (ग्रन्थकार के पास भेजे गये) उद्धृत अंशों के द्वारा जाना जा सकता है। बाबा ने लिखा था—"वत्स, सभी कुछ उन्हीं की इच्छा। उन इच्छामयी के प्रति विशेष लक्ष्य रखने से ही सभी विषय भलीभाँति जाने जा सकते हैं। उक्त इच्छामयी की कृपा के बिना कोई भी विषय जानने की किसी में भी शक्ति नहीं हो सकती। मनुष्य को श्रेष्ठत्व कैसे प्राप्त हुआ है ? क्योंकि वह स्वभाव का भाव और गुण का विषय जानने की चेष्टा करता है और और बहुत कुछ उसने जान लिया है। जान पाने पर मायाजनित दुष्कर प्रलोभन से छुटकारा पाने का उसने उपाय किया एवं करता जा रहा है। जिसके द्वारा संपूर्ण त्रितापजनित तापों से निस्तार पाया जाय, फिर से न हो, ऐसी चेष्टा को ही 'सम्पाद्य ज्ञान' कहा जाता है। यह भी दो भागों में विभक्त है—ज्ञान और विज्ञान। जिनके द्वारा सृष्टि और लय होते हैं वे कौन हैं, वे क्यों इस प्रकार करते हैं इत्यादि जानने का नाम है "ज्ञान"।

उसकी परावस्था, सृष्टि और लय करने वालों को भी[1] जिन्होंने रचा है, उस घोररूपिणी महाशक्ति व्योमातीत के विषय में जानने का नाम है "विज्ञान"। जगत् मिथ्या, एक वे ही सत्य हैं।"

(पुरीधाम से वंग० १३३२, वैशाख १२ को लिखा पत्र)

बाबा का लिखा हुआ एक और दूसरा पत्र है—'वत्स, जो कुछ तुम देखते हो, वह सब महाशक्ति का व्यापार है। सचराचर मानव की चिन्ता शक्ति जड की अन्धशक्ति के साथ अंगीभूत होकर नाना भावों में भ्रमण करती रहती है। वह महाशक्ति के विज्ञान तत्व को धारण करने में सक्षम नहीं हो पाती। सर्वव्यापिनी शक्ति में स्थूलता—बोध यह बात भूल है। और उसके द्वारा महाशक्ति का ज्ञान सम्भव नहीं है। यह विषय सहज ही में जाना जा सकता है। महाशक्ति ज्ञान और उसकी चिन्तायें दोनों ही प्रबल योग में स्वाभाविक होते हैं,—अस्वाभाविक परिमित पदार्थ द्वारा ये चालित नहीं होते। उनकी गति तो महाकाशभेदी एक मात्र महाशक्ति में ही होती है। इस महाविज्ञान चिन्ता के बीच में और कोई नहीं होता। सीधे महाशक्ति की कृपा से ही इसका प्रस्फुटन होता है। मानव हृदय में यदि सरसो-प्रमाण भी पवित्रता हो तो अखण्ड महामाया का विशुद्ध भाव से चिन्ता का जो ज्ञान, उस ज्ञान के उज्जवल तेज से सब प्रकार के पाप—ताप, ज्वाला—यंत्रणा, आसक्ति की आवर्ज्जना प्रभृति भस्मीभूत हो जाते हैं।

उस समय हृदय के अन्दर महाशक्ति की 'जगत शक्ति' का ज्ञानामृत प्रकाशित होकर के कलुषित संतप्त चित्त महाआवरण से परित्राण पाये बिना रह ही नहीं सकता। तब बाह्यिक व्यापार सब भूल जाता है। महामाया की

१—और एक स्थान में बाबा ने लिखा है—"जो सभी के लिए मंगलमय और सभी के आधार में वर्तमान हैं, जो ज्ञान तथा निर्वाण—मुक्ति के मूल है, उनको भी प्रसव करने वाली जो हैं, वे तुम सबका मंगल करें, यही मेरा इष्ट।" (गुमो से २० माघ, बंग० १३३३ को लिखित पत्र)।

कृपा-शक्ति विज्ञान-बल से महाशक्ति का महातत्व स्थूल जगत में उतार ला सकती है। असीम महाशक्ति के महाविज्ञान के आलोक द्वारा प्राण में जो कुछ होता है, वह जिसे हुआ होगा वही जान सकता है। तदर्थ भाषा नहीं है, भाषा होती तो मैं लिखता। यह भली प्रकार जाना गया है कि योग और विज्ञान के विना इस विषय में कुछ भी समझ पाना सम्भव नहीं है।" (७ फाल्गुन, वंग० १३२६, नं० ७ कुण्डू रोड, भवानीपुर, कलकत्ता से लिखा हुआ पत्र)।

यह सब पत्रांश पढ़कर मालूम हो सकता है कि ज्ञान से विज्ञान श्रेष्ठ है। ज्ञान का सारांश ही है "विज्ञान"। तत्व वस्तु को सामान्य भाव से जानने का नाम "ज्ञान" है और तत्व वस्तु की सम्पूर्ण विशेषताओं को जान-करके उसे सब प्रकार से अपने अधीन करने का नाम "विज्ञान" है। ज्ञान के द्वारा परमात्मा की तृतीय भूमि पर्यन्त उपलब्धि होती है, किन्तु तुरीयातीत महाशक्ति का स्वरूप यदि समझना हो, जो कि समस्त तत्वों से अतीत होकर भी परम तत्व रूपा हैं उनको यदि धारणा करना हो तो विज्ञान के सिवा अन्य गति नहीं है।

ज्ञानी का चित्त भी भगवती महामाया के मायाचक्र में खिंचा हुआ, मोह भँवर में पतित होकर डूबने उतराने लग जाय, ऐसी कभी-कभी सम्भा-वना होती है। किन्तु ज्ञान जब विज्ञान में परिणत हो जाता है, जिस समय एक ओर शुद्धा-भक्ति और दूसरी ओर शुद्धा-कृपा उदित होकर भक्त को महा-शक्ति की सुशीतला गोदी में ले जाकर बैठा देती हैं, तब फिर पतन की कोई आशंका नहीं रह जाती। शिशु जब अपनी माँ का हाथ पकड़कर अपनी चाल से अपने बल पर चलने की चेष्टा करता है, तब उसके गिर पड़ने की सम्भा-वना होती है, क्योंकि दुर्बल शिशु की थकी हुई मुट्ठी की पकड़ ढीली होकर हाथ छूटकर उसके गिर पड़ने में कोई देरी नहीं लग सकती। किन्तु माता जब शिशु को स्वयं अपने हाथ का सहारा देती है और शिशु को अपने हाथ से मजबूत पकड़े हुए ले चलती है, उस समय फिर भय का कोई

कारण नहीं रह जाता। ज्ञान और विज्ञान का परस्पर संबंध कुछ इसी प्रकार समझना चाहिए। विज्ञान के उज्ज्वल आलोक के भीतर ज्ञान और अज्ञान दोनों ही समसूत्र होकर निष्प्रभता को प्राप्त हो जाते हैं। द्वैत तथा अद्वैत, नित्य एवं अनित्य, गति और स्थिति इन सबको यथार्थ समभाव से देखना हो तो एकमात्र विज्ञान का आश्रय लेना ही होगा। इस प्रसंग में बाबा के और एक पत्र में से किंचित अंश हम यहाँ पर दे रहे हैं।

उन्होंने लिखा है:—"वत्स, सकल शक्तियों की मूल जो शक्ति हैं, एकमात्र वही सब के आदि अन्त में रहती हैं। समस्त विषयों में उनके प्रकाश के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। स्वयं वे जब शक्तियों का संकोच करेंगी, उस समय सूर्य, चन्द्र, ग्रह, उपग्रह एवं विचित्र जगत, सकल देव-देवी जो-जो कुछ भी हैं, किसी का भी अस्तित्व नहीं रहेगा और कोई भी नहीं दिखायी देगा। एकमात्र पूर्ण परमानन्दमयी ब्रम्हमयी द्वैताद्वैत, नित्य और अनित्य लीला के अन्दर सुख-दुःख, हाय-हताशा, पिता-पुत्र, सेव्य-सेवक इत्यादि सबको लेकर के मजे का खेल करतीं हैं। प्रयोजन अप्रयोजन स्वयं ही जानती हैं और जो कोई उन ब्रम्हमयी के प्रसंगों को लेकर समझने की चेष्टा करते हैं, वे भी कुछ-कुछ जान पाते हैं। जीवात्मा, स्वरूपात्मा, परमात्मा, स्थूल आत्मा प्रभृति जो हैं सब उन महाशक्ति माँ के ही भाव हैं। इसके अतिरिक्त और कुछ समझने में नहीं आता। वत्स! असार युक्ति तर्क द्वारा तो कुछ मिलता नहीं। प्रत्यक्ष वस्तु के लिए और युक्ति तर्क क्या? जगत प्रसविनी प्रत्यक्ष माँ योग में ब्रम्हातीत माँ—महाभाव—तत्व का सार-मर्म क्रिया के द्वारा हृदय में सर्वदा ही ग्रहण करो, वाह्यिक भाव के भीतर झुक न पड़ते हुए सर्वदा ही माँ को स्पर्श करने में सक्षम होवो, तभी सब कुछ सम्भव होगा।"

(१७ चैत्र, वंग० १३३२, नं० २० रूपनारायण नन्दन लेन, भवानीपुर से लिखित)।

ज्ञान और विज्ञान इन दोनों के साथ सवितृ-तत्व का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सूर्य में संयम करने से भुवन ज्ञान होता है, जितने भी पदार्थ हैं सभी

का ज्ञान प्राप्त होता है। यह बात योगशास्त्र में है। इसका एकमात्र कारण यही है कि सूर्य सम्पूर्ण पदार्थों का प्रसवकर्ता, मूल स्तम्भ और केन्द्र स्वरूप है। सूर्य के आलोक में ही परिदृश्यमान जगत के समस्त पदार्थ प्रकाशमान होते हैं। क्या जाग्रत में, क्या स्वप्न में सर्वदा ही और सर्वत्र ही सृष्टि के अन्दर सूर्य ही एकमात्र प्रकाशक है। सूर्य से जो तेजोधारा चारो ओर फैलकर छिटक पड़ती है उसको यदि संयत करके एकमुखी बनाकर एक ही ओर प्रवाहित करते बने, तो समग्र जगत ज्ञानशून्य हो जायेगा, बाह्य ज्ञान, भेदज्ञान सब लोप हो जायेगा। सूर्य—रश्मियों के विक्षेप से ही जागतिक ज्ञान का उद्भव होता है। जिस समय रश्मियों का संघात प्रतिष्ठित हो जायगा, उस समय जीव का भी विक्षिप्त—ज्ञान निवृत्त हो जायेगा और एकाग्र—ज्ञान का उदय होगा। तत्पश्चात् वही संहत रश्मि, वही केन्द्रीकृत घनीभूत प्रभाराशि जब सूर्यमण्डल का त्याग करके ऊर्ध्व की ओर उठने लगेगी, उस समय प्रणव के आलोक में परमतत्व प्रकाशमान होता जायेगा, प्रबुद्धा कुण्डलिनी—शक्ति आहता नागिनी की तरह घोरनाद करती हुई ब्रम्हपथ अवलम्बन पूर्वक महाव्योम-राज्य भेदकर के व्योमातीत महाशक्ति की ओर आगे बढ़ती चली जायगी। यही है विज्ञान का आत्मप्रकाश। जो कुछ बृहद ब्रम्हाण्ड में होता है, छोटे से मनुष्य देहरूपी पिण्ड में भी ठीक वही होता है।

सूर्य को आश्रय करके ही ज्ञान तथा विज्ञान दोनों का विकास होता है। सूर्य के आलोक में देह-मध्यस्थ इडामार्ग संचारी चन्द्र प्रकाशित होकर स्निग्ध अमृतधारा से समस्त देह को आप्यायित कर लेता है। पिंगलावर्ती सूर्य क्रियाकौशल से जिस समय प्रबल तेजोमय रूप धारण करता है, तब उसी के संस्पर्श से मध्यशक्ति कुछ परिमाण में उत्तेजित होकर वाम-पार्श्वस्थ इडा मार्ग से संचरणशील चन्द्रमा को उग्र भाव में परिणत कर देती है। क्रमशः दक्षिणशक्ति, मध्यशक्ति और वामशक्ति तीनों ही शक्तियाँ समान रूप से उत्तेजित होकर, त्रिकोन के तीनों कोन समभाव से विक्षोभ को प्राप्त होते हैं तब ये तीन शक्तियाँ समष्टिभूत होती हुई मध्यस्थ ब्रम्हबिन्दु को धक्का

देकर जगा देती हैं, यह है कुण्डलिनी का जागरण अथवा मंत्रचैतन्यसम्पादन। सुतराम् सूर्य की प्रबलता द्वारा ही चन्द्र सूर्य का साम्य स्थापित होता है और अन्त में सुषुम्ना के साथ अभेद सम्पन्न होता है।

जब ये तीनों पृथक् स्रोत एक समकेन्द्र की गहराई में पतित हो सम्मिलित सामञ्जस्य को प्राप्त हो जाते हैं तब स्वभावतः ही अद्वैत मार्ग उन्मुक्त हो जाता है और उस मुक्त आलोक के अन्दर तत्व वस्तु का दर्शन होता है। जब तक एकाग्र भूमि के अवसान में निरोध आयत्त नहीं और चित्त वृत्ति की ऐकान्तिक निवृत्ति नहीं हो जाती, तब तक स्वयंप्रकाश विज्ञान तत्व का स्फुरण होना सम्भव नहीं होता। यदि महाशक्ति के राज्य में प्रवेश करना हो त एकाग्र भूमि के ज्ञान को निवद्ध करके परिपूर्ण विज्ञानशक्ति का आश्रय ग्रहण करना नितान्त आवश्यक है।

तन्त्र के मातृकातत्व और वर्णतत्त्व की गभीर भाव से विवेचना करने पर जाना जा सकता है कि इसमें सूर्य-विज्ञान का ही रहस्य छिपा हुआ है। जगत की सृष्टि, स्थिति और संहार सर्वविध व्यापार ही मातृका-मण्डल की क्रिया द्वारा होते हैं ऐसा तन्त्रशास्त्र में प्रतिपादित है। षडध्वा के विचार-प्रसंग में एक ओर पद, मंत्र और वर्ण एवं दूसरी ओर भुवन, तत्व और कला इनके परस्पर सम्बन्धों का निरूपण करने से समझ में आ जायगा कि वर्ण और कला अच्छेद्य सम्बन्ध से विजड़ित हैं।

जैसे शिव और शक्ति का, उसी प्रकार वाक् और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। विक्षुब्ध सवितृ-विन्दु से शुद्धावस्था में बाहर निकलकर फैला हुआ नादमय रश्मिचक्र जो है, वास्तव में वही है अ-कार आदि वर्णमाला। शब्द ब्रम्हरूपी हिरण्यगर्भ वा सविता यद्यपि केन्द्र-स्थल में एवं व्योम में अखण्ड एक ही विराजमान है, तथापि बाह्य भाव में उनचास वायुओं के कंपन, उनचास वर्ण या रश्मि के रूप में वह बाहर प्रकट होता है। ये पचास वर्ण ही व्यष्टि और समष्टि भाव से 'अ' से लेकर 'क्ष' तक वर्णमाला के अथवा अ-क्ष माला के रूप मूलाधार चक्र से आज्ञाचक्र तक छः चक्रों के बीच पचास दलों में प्रकाशमान

होते हैं। इस वर्णतत्व अथवा नादतत्व को आयत्त किये बिना ब्रम्हविद्या में अधिकार प्राप्त नहीं होता है, क्यों कर "शब्द ब्रम्हणि निष्णातः परं ब्रम्हाधिगच्छति" शब्द से ही जगत सृष्ट हुआ है शब्द में ही अन्त में जगत का लय भी होता है, इतना ही नहीं, सृष्टि एवं लय दोनों से ही अतीत, संकोच तथा प्रसार के ऊर्ध्व में स्थित अच्युत ब्रम्हविन्दु में पहुँचने के लिए भी आगे मंत्ररूपी शब्द ही कर्णधार होता है। सब देवताओं के शरीर भी इसी मंत्रमय ज्योति के द्वारा ही गठति होते हैं। यंत्र आदि का भी स्वरूप भी वही है। शुद्ध विद्या के द्वारा आत्मसंस्कार करके इस विद्या के धाम के अधिष्ठाता यदि होते बने अर्थात् मंत्रेश्वर, मंत्र-महेश्वर आदि पद प्राप्त किया जा सके, तभी वर्णमाला के ऊपर अधिकार प्राप्त होगा। इस अवस्था में समस्त मंत्र और देवता किंकरवत् अधीन हो जाते हैं और साधक को गुरुपद वाच्य सदाशिव अवस्था प्राप्त होती है। प्रणव और व्याहृति का रहस्य जिन्हें ज्ञात है, वे लोग समझ सकेंगे कि वेदों में भी इसी बिन्दु एवं नाद की साधना का ही उपदेश जहाँ तहाँ देशोचित, कालोचित नाना प्रकारों में अधिकार भेद के अनुसार किया गया है। ईसाई मत, प्राचीन और मध्ययुग के पाश्चात्य योग सिद्धान्त, सूफी मत एवं अन्यान्य देशों की अन्तरंग साधन-प्रणाली, इन सब का अनुसंधान करके देखने से पता चलता है कि सर्वत्र यह एक ही विज्ञान प्रचारित हुआ है। अनधिकारी लोगों ने उसको समझ न सकने के कारण केवल ऊपर ऊपर स्थूल भाव से मात्र ग्रहण किया है।

प्रकृति का सारा व्यापार ही है रंगों का खेला। जो कोई निर्लिप्त दर्शक होगा वह तटस्थ भाव से देख पायेगा कि एक सर्वव्यापक शुभ्र सत्वमय वर्ण के ऊपर नील, रक्त आदि अनन्त प्रकार के मिश्र और अमिश्र वर्णों का घात-प्रतिघात चल रहा है। फलतः जल-बुद्बुदों जैसा विश्वरूप इन्द्रजाल रचित हो रहा है। अज्ञानी के रंजित नेत्रों में यह इन्द्रजाल अथवा मायिक व्यापार मानों सत्य जैसा प्रतीत होता है। जब तक कि नेत्रों से यह वर्णों का आवेश कट न जायगा, जब तक मोह हट नहीं जायगा, तब तक मिथ्या दर्शन

भी मिट नहीं सकता। जिस शुभ्र भित्ति के उपर यह कुरुप मायाचित्र-राशि खेल रही है, उसके वास्तव दर्शन के लिए जब तक यथार्थ दृष्टि नहीं खुल जाती, तबतक अपरूप विचित्र जगदर्शन से मोहित होना ही पड़ेगा। बाहरी वैचित्र्य की भीतरी गहराई में स्थित वह व्यापक अखण्ड ऐक्य सूत्र यदि खोज निकालना हो, तब तो चित्त की तथा उसके सहकारी इन्द्रिय-गणों की मार्जना आवश्यक है। समस्त वासनात्मक चित्र-विचित्र रंगों के ढेर ने अन्तर्दर्पण को आच्छादित कर रक्खा है। उन सबको दूर हटाना होगा। तभी अन्तः स्थित स्वाभाविक स्वच्छता प्रस्फुटित हो उठेगी। जब चित्त स्वयं शुभ्र हो जायगा, तब वह शुभ्र सत्वमय जगदाधार को सहज में ही देख पायेगा, उस दशा में मायावी की माया को पकड़ने में उसे कोई विलम्ब नहीं लगेगा।

विज्ञान का उद्देश्य है—इस फैले हुए विराट इन्द्रजाल का मूल सूत्र खोज निकालना। वर्णमाला के संयोग और वियोग द्वारा ही जगत के समस्त व्यापार घटित होते हैं। सृष्टि और प्रलय इस संयोग-वियोग के ही अवश्यं-भावी फल हैं। विज्ञानवेत्ता लोग समस्त कार्यों के उपादान और निमित्तों का स्वरूप विशेष भाव से जानकर विधाता के कला-कौशल को प्रत्यक्ष रूप से पकड़ ले सकते हैं। इतना ही नहीं, कुछ हद तक विधाता के ऐश्वर्य को भी हस्तगत कर पाते हैं। इससे भी बढ़कर यहाँ तक कि इच्छा करने पर विज्ञान वेता तो विधाता को भी अतिक्रम कर जाते हैं और सर्वमूला अनादि महाशक्ति के श्रीचरणों तक जा उपस्थित होते हैं। विश्वामित्र का जगन्निर्माण, भण्डा-सुर की नूतन विशाल ब्रम्हाण्ड रचना ये सब साधन-राज्य के इतिहास में सर्वप्रसिद्ध घटनाएँ हैं।

पुस्तक पढ़ना सीखने के पहले जिस प्रकार सर्वप्रथम वर्ण-परिचय आवश्यक, तदनंतर वर्णों की संयोजन-प्रणाली सीखी जाती हैं, उसी प्रकार विज्ञान-शिक्षा का प्रथम सोपान है विशुद्ध रश्मियों के साथ परिचय स्थापन करना। सूर्य की रश्मियों का विश्लेषण सीख कर प्रयोजनानुसार शुद्ध वर्ण को चीन्ह कर बाहर लाना और पकड़ रख सकना जब बनने लगता है, तब भिन्न-भिन्न रश्मियों की परस्पर-मिलन-पद्धति समझ में आने लगती है।

वेदान्त-शास्त्र में पंचीकरण और उपनिषद आदि में त्रिवृतकरण प्रणाली का उल्लेख देखा जाता है। किन्तु उस प्रणाली को सचमुच विज्ञान-क्रिया के कुशल मर्मज्ञ व्यक्तियों के सिवा कोई समझ नहीं सकता। यह भी रश्मि-संयोजन की ही एक अवस्था मात्र है। जो भी हो, इस विषय में यहाँ पर अधिक लिखने की आवश्यता नहीं है।[1]

१—'सूर्य विज्ञान'' के सम्बध में यथाशक्ति विस्तारपूर्वक विवेचना करने की इच्छा है। वह दूसरे भाग में की जायगी। फिर भी तत्संबंधी दो-चार मोटी बातें यहाँ कहकर विषय समाप्त करूँगा। अनेक व्यक्तियों ने पूज्यपाद बाबा की कृपा से सूर्य विज्ञान के नाना प्रकार के प्रयोग अपनी आँखों से देखें हैं। अंग्रेजी, बंगला आदि विभिन्न भाषाओं की पत्रिकाओं में पाश्चात्य और देशी पण्डितगणों के बीच में अनेक ने उसकी आलोचना भी लिखी है। किसी-किसी ने समझ न पाने के कारण सूर्य विज्ञान को इच्छाशक्ति की ही अवस्था—भेद कह कर वर्णन किया है। किन्तु वे लोग वस्तुतः इच्छाशक्ति किसे कहते हैं यह जानते नहीं। इच्छाशक्ति में बाह्य उपादान की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। सत्य संकल्प योगी की इच्छा मात्र से तत्क्षण कार्य घटित हो जाता है, तदर्थ बाहरी उपादान का आकर्षण आवश्यक नहीं होता। यह है अभिन्न निमित्तोपादानवादी वेदान्तिक की सिद्ध वा अद्वैत भूमि की बहिर्मुख अवस्था। उत्पल देव ने कहा है—

'चिदात्माहि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशात् बहिः।
योगिव निरुपादानमर्थं – जातं प्रकाशयेत्।।''

उसी प्रकार अभिनव गुप्ताचार्य ने अपनी 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी' में स्पष्ट भाव से समझा दिया है कि ईश्वर की सृष्टि और योगी की सृष्टि दोनों ही निरुपादान होती हैं। आत्मा चैतन्य स्वरूप है, उसी में विश्वप्रपच अभिन्न रूप से निहित रहता है। इच्छाबल से वही अन्तःस्थित पदार्थ बाहर प्रकाशित-मात्र हो जाता है। प्रचलित भाषा में इसी को 'सृष्टि' कहते हैं। अतः सृष्टि के लिए आत्मा के सिवा दूसरी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। वेदान्त सिद्धांत भी कुछ अंश में इसी प्रकार का है। केवल माया के स्थान-निर्देश सम्बन्ध

सूर्य विज्ञान का बहुत कुछ व्यापार मैंने अपनी आँखों से देखा है। यहाँ यहाँ पर उस सब का विस्तारपूर्वक वर्णन करने का प्रयोजन नहीं है। तब भी दो चार घटनायें दृष्टान्त रूप से उल्लेख कर रहा हूँ। इसीसे बहुत कुछ आभास मिल सकेगा।

में दोनों में भेद दिखाई पड़ता है। किन्तु द्वैतवादी नैयायिक आदि आचार्यगण उपादान का पार्थक्य स्वीकार करते हैं। उन लोगों के मत से सत्यसंकल्प योगी के संकल्प करते मात्र ही सर्वगत परमाणु मण्डल में से सभी आवश्यक परमाणु परस्पर आकृष्ट होकर द्वाणुकादि क्रम से तुरन्त सम्मिलित हो जाते हैं और इच्छानुरूप कार्य की रचना कर देते हैं। अतः यह स्पष्ट हुआ कि दोनों प्रकार के मतों में केवल 'इच्छा' को ही सृष्टि का मूल माना है. सृष्टि के लिए ज्ञानतः उपादान की अपेक्षा करनी नहीं पड़ती। किन्तु विज्ञान की सृष्टि में तो उपादान को प्रत्यक्ष रूप से चीन्ह लेना पड़ता है और उसकी संयोग वियोग प्रणाली पर यथेष्ट अधिकार प्राप्त कर लेना पड़ता है। तत्पश्चात् यथा प्रयोजन कार्य-रचना में प्रवृत्त होना होता है। वैज्ञानिक सृष्टि होती है ज्ञानपूर्वक और योगी की सृष्टि होती है इच्छापूर्वक। दोनों प्रणालियों में भेद यही है कि प्रथम प्रणाली मे ज्ञान अंगी है तथा इच्छा उसका अंग स्वरूप है, द्वितीय प्रणाली में इच्छा ही अंगी है तथा ज्ञान उसका अंग स्वरूप अव्यक्त भाव से वर्तमान रहता है। जो लोग विज्ञान वेत्ता नहीं हैं, अथच योगी भी नहीं हैं, ऐसे व्यक्ति दोनों प्रणालियों में जो सूक्ष्म भेद है, उसे ग्रहण नहीं कर पाते। उभय प्रणालियों की सृष्टि व्यावहारिक है, प्रतिभासिक मात्र नहीं है। अतः इस अंश में इन दोनों में कोई पार्थक्य नहीं है। प्रचलित Hallucination (कल्पनाकल्प पदार्थाभास), Hypnotic illusion (तन्द्रा कल्प पदार्थाभास) प्रभृति स्वप्न दृश्यवत् प्राति भासिक सृष्टि के निदर्शन हैं। स्वप्न में देखे हुए पदार्थ जैसे स्वप्नान्त में लीन हो जाते हैं Hallucination प्रभृति भी वैसे ही हैं। इन्द्रियादि के विकार जहाँ प्रशांत हुए कि ये पदार्थ दृश्य भी विलीन हो जाते हैं। जबतक प्रतीति

यह चरित कथा लिखने के प्रायः दस वर्ष पहले एक दिन दिलीप मंच के आश्रम में पूज्यपाद बाबा से मैंने सृष्टि तत्व के विषय में प्रश्न किया था। उस समय प्रकृति और पुरुष के संयोग संबन्ध में चर्चा चल रही थी। बाबा बोले—"दो वस्तुओं का संघर्ष हुए बिना कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। जगत में जो कोई वस्तु देख पाते हो, प्रत्येक वस्तु इस संघर्ष के फलस्वरूप ही निर्माण

तभी तक उनकी सत्ता। इस व्यावहारिक जगत में वे किसी काम में नहीं आ सकते। उनको "दृष्टि सृष्टि" कहकर वर्णन कर सकते हैं। परन्तु योगी की सृष्टि और वैज्ञानिक सृष्टि जो होती है, वह इस प्रकार अस्थिरस्थायी या मिथ्या नहीं होती। वह सृष्टि भी यद्यपि परमार्थिक दृष्टि से समग्र जगत की तरह तुच्छ ही है, किन्तु व्यवहार भूमि में पूर्णतया सत्य और चिरस्थायी होती है। जगत के अन्यान्य सृष्ट पदार्थ जिस प्रकार, वे भी ठीक उसी प्रकार सत्यासत्य निर्णय की जितनी भी Pragmatic test प्रयोगात्मक कसौटी है उसके द्वारा विचार करने पर उन पदार्थों को सत्य कहकर ही स्वीकार करना होगा। 'पंचदशी' प्रभृति ग्रन्थों में ईश्वरसृष्टि और जीवसृष्टि में जो भेद दिखाया है तदनुसार वैज्ञानिकसृष्टि और योगिसृष्टि, जीव-सृष्टि से विलक्षण है ऐसा जाना जा सकता है। जीव का सत्व उपाधि से मलिन सत्व अर्थात् रजः और तमोमिश्रित सत्व है। इस उपाधि से जो सृष्टि होगी वह प्रतिभासिक, स्वप्न दृश्यवत् भ्रान्ति—जाल मात्र। वह है बन्धन कारक। परन्तु ईश्वर सृष्टि का निर्माण विशुद्ध सत्व अर्थात् ईश्वरोपाधि से होता है अतः वह है व्यावहारिक सत्ता की वस्तु, उसे मिथ्या कहकर वर्णन करने से नहीं बनेगा। परमार्थ दशा में व्यावहारिक भूमि को अतिक्रमण कर जाना होता है, यह सत्य है किन्तु इससे व्यवहार मिथ्या है यह प्रमाणित नहीं होता। योग और विज्ञान दोनों ही विशुद्ध सत्व के ऊपर प्रतिष्ठित हैं। अतः योगबल से और विज्ञानबल से जिन पदार्थों का निर्माण होता है, वे व्यवहार में सत्य रूप से ही उपयोगी बने रहते हैं।...इस संबंध में विस्तारित आलोचना यथास्थान की जायगी।

हुई है और हो रही है। प्रकृति और पुरुष के स्वरूप का विचार सम्प्रति छोड़ दो। जो कुछ भी देख पाते हो सर्वत्र ही यही नियम प्रबल है। सभी वस्तुओं में प्रकृति और पुरुष उभय का अंश विद्यमान है। अणु परमाणुओं तक में ये दो विभाग वर्तमान रहते हैं। जिसमें प्रकृति का भाग अधिक एवं पुरुष का अंश अल्प होता है, उस वस्तु में पुरुष भाव अभिभूत अर्थात् दबा हुआ होता है और प्रकृति भाव प्रधानरूप से प्रकट रहता है। इसी प्रकार पुरुष अंश प्रधान होने पर पुरुष भाव का विकास होता है। सृष्ट—पदार्थ मात्र ही दो प्रतिकूल शक्तियों के संघर्ष उत्पन्न हुए हैं यही नियम सर्वत्र वर्तमान है।''

बाबा के आसन पर एक गुलाब का फूल पड़ा हुआ था। मैंने पूछाः— "बाबा, यह गुलाब-पुष्प नारी कि पुरुष ? इसमें प्रकृति का अंश ज्यादा है कि पुरुष का अंश ज्यादा है ?'' उन्होंने गुलाब फूल को हाथ में उठा लिया और एक बार उस पर ठीक से दृष्टि दी। बाद में कहा—"यह है स्त्री पुष्प एवं स्त्री के लक्षणादि उसमें दिखाकर समझा दिया। मुझसे से पूछा—"एक पुरुष गुलाब ला सकते हो क्या ? ला सको तो एक व्यापार दिखाऊँ और समझा दूँ। वहाँ पर दूसरा कोई फूल न था। तीसरे पहर बाहर टहलने जाने का समय हो चुका था। मैंने कहा—यहाँ पर तो और दूसरा गुलाब नहीं है। आप यदि आदेश करें तो बाहर जाकर ले आ सकता हूँ।" बाबा ने कहाः— "रहने दो। प्रयोजन नहीं। तुम इस फूल की पँखुड़ियाँ सब एक एक करके खोल डालो। फिर मुझे दो।" मैंने वैसा ही किया। बाबा ने उस दल— विरहित फूल को हाथ में लेकर दो एक बार ऊपर नीचे घुमाया और कहा— सूर्य-रश्मियों का अवलंबन करके पुरुष गुलाब का एक बीज आकर्षित करके पुष्प का गर्भाधान कर दिया है। अभी इस पुष्प को एक छोटे से कोमल आवरण के भीतर अथवा तुम्हारी मुठ्ठी के अन्दर कुछ मिनट तक बन्द कर रखो। जिससे बाहर की ठंढी वायु विशेष रूप से इस में स्पर्श न कर सके। देखोगे कि कुछ मिनटों में ही एक अभिनव, वृहदाकार तथा अत्यन्त सुगन्धित गुलाब तैयार हो जायगा।'' पंखड़ी—रहित उस फूल को मैंने अपनी मुष्टि के भीतर रख लिया और बीच बीच में थोड़ा थोड़ा खोलकर देखने लगा। प्रायः

पाँच मिनट के अन्दर ही देखने में आया कि एक बड़े आकार का गुलाब-पुष्प निर्मित हो चुका। पहले के छिन्न पुष्प की अपेक्षा वह दुगुना था। वर्ण और गन्ध में भी दोनों में बहुत अन्तर पाया गया।

मैंने प्रश्न किया—"बाबा, योग शास्त्र में है कि प्रकृति वा उपादान के आपूरण-अनुप्रवेशवशत. एक जातीय पदार्थ अन्य जातीय पदार्थ में परिणत हो जाता है [जात्यन्तर परिणामः प्रकृत्यापूरात्]। यह किस प्रकार संभव है ?" उन्होने कहा—"हाँ, वह हो सकता है। जगत के प्रत्येक पदार्थ के अन्दर समस्त पदार्थों का उपादान विद्यमान है। यही जो गुलाब-फूल तुम देख रहे हो—इसके भीतर न हो ऐसा कोई भी पदार्थ जगत में नहीं है। किन्तु गुलाब का उपादान इसमें अधिक मात्रा में प्रकट है एवं अन्यान्य उपादान अल्प मात्रा में। अतः इसमें गुलाब की प्रधानतावश गुलाब की ही क्रिया दिखायी देती है। अन्यान्य उपादानों की सत्ता साधारण दृष्टि की पकड़ में नहीं आती, किन्तु जो योगी हैं अथवा विज्ञानविद् हैं, उनकी दृष्टि सबकुछ देख सकती है। इच्छा करने पर तत्क्षण ही क्रियाकौशल द्वारा वे जिस किसी उपादान को बाहरी जगत से उसके सजातीय उपादान को आकर्षित करते हुए पुष्ट कर सकते हैं। पहले जो अव्यक्त था, वह तब अभिव्यक्त होगा, एवं जो अभिव्यक्त, वह क्रमश अव्यक्त होकर विलय को प्राप्त होगा। इस प्रणाली से जगत की जिस किसी भी वस्तु को चाहे जिस किसी भी अन्य वस्तु में रूपान्तरित किया जा सकता है ? देव-भाव से पशु-भाव प्राप्ति और पशु भाव देव भाव प्राप्ति उभय ही संभव हो सकती हैं। प्रकृति के गुण प्रधान भाव से ही सृष्टि का खेला चलता है। जिस किसी भी चीज में उपादान गत आपेक्षिक साम्य प्रतिष्ठित कर सकने पर वह वस्तु अदृश्य अथवा अव्यक्त हो जायगी।"

यह कहकर बाबा ने पूर्वकथित गुलाब को एक जवा फूल में परिणत कर दिया। इस प्रकार योग शास्त्र में उल्लेखित 'जात्यन्यर परिणाम" को विज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष करके दिखाया। ये क्रम-परिवर्तन के विविध स्तर भली प्रकार अनुसन्धान करते हुए देखने का विषय है।

और एक दिन अनुलोम और विलोम परिणाम संबन्धी बात उठी थी। बाबा ने कहा—"देखो, उभयविध परिणाम हीं सत्य है। दुग्ध से दधि बनता है दधि से नवनीत और नवनीत से घृत उत्पन्न होता है। दूध के अन्दर दही का उपादान आत्मगोपन करके वर्तमान रहता है। जो कोई प्रकृत कर्मी होगा, वह इच्छा करते मात्र ही इस ढके हुए भीतर छिपे उपादान को आश्रय करके विलोम क्रम से घी को फिर से दूध में यहाँ तक कि तृण के ढेर में परिणत कर सकता है। बालक के भीतर वृद्ध भाव भी निहित है, उसे प्रत्यक्ष कर सकने पर बालक को देखकर उसकी भविष्यत् अवस्था जानी जा सकती है। उसी प्रकार वृद्ध के भीतर बालभाव छिपा हुआ है, इसीलिए वृद्ध को देखकर भी उसकी भूतकाल की अवस्था को प्रत्यक्ष जान सकते हैं। तात्पर्य, परिणाम-क्रम के साक्षात्कार द्वारा स्वभाव के नियम से अतीत अनागत ज्ञान अपने आप ही उत्पन्न होता है।" यह कहकर बाबा ने एक खिले हुए गुलाब के फूल को बन्द कलिका के रूप में बदल दिया। बाद में उसी कली को मार्शल-नील नामक गुलाब की कलिका के रंग-रूप में बदल दिया और तीन मिनट के भीतर ही उसको प्रस्फुटित पुष्प बना दिया।

एक समय की बात है सन्ध्या के पश्चात पुरीधाम में मैं आश्रम के भीतर बैठा था। बाबा आन्हिक करके आश्रम के बरामदे में विश्राम कर रहे थे। एक-दो भक्त बाबा को पंखा झेल रहे थे। बैठे-बैठे मेरे मन में अचानक 'चैतन्य चरणामृत' ग्रंथ का एक वचन याद आया। जिस प्रसंग में श्रीकृष्ण भगवान के अंग सुगंध का वर्णन है ("मृगमद नीलोत्पल" इत्यादि) वही स्थल मेरे स्मरण में आ गया। मैंने पूज्यपाद बाबा से प्रश्न किया—"बाबा, चैतन्य चरितामृत, गोविन्द लीलामृत प्रभृति ग्रंथों में श्रीकृष्ण के जिस प्रकार के अंग-गंध का वर्णन है वह क्या स्निग्ध गन्ध ?" उन्होंने कहा—"किन-किन द्रव्यों के सम्मिश्रण से उक्त गन्ध का आभास पाया जाता है ? ग्रंथ में किन द्रव्यों का नाम लिखा है, एक-एक करके बताओ।" मैं गोविन्द लीलामृत के मतानुसार नील-पद्म, कस्तूरी प्रभृति द्रव्यों का नाम गिनाने लगा। बाबा

एक द्रव्य का नाम सुनते हुए साथ–साथ हस्त संचालन करते गये। जब मैं सब द्रव्यों के नाम गिना चुका, तब बाबा ने तुरन्त अपने हाथ की मुट्ठी मेरे समीप लाकर कहा—"यह लो, कृष्ण के अंग की सुगंध को सूंघो। जो–जो द्रव्य तुमने गिनाये, साथ-साथ उन्हीं द्रव्यों के उपादानों को मैं आकर्षित करता गया और सबको एक में मिला दिया। देखो, कैसा अनुभव हो रहा है, सूँघकर बताओ तो ?" मैंने सूँघकर देखा क्या ही अपूर्व दिव्य गन्ध, जगत में जिसकी कोई तुलना नही है। पुनः दूसरे दिन एक शीशी भर कर यह अपूर्व गंध उन्होंने सूर्य रश्मि द्वारा तैयार करके दिखा दी थी। मैंने पूछा—"बाबा इतने सब पदार्थों को आपने नाम सुनते मात्र किस प्रकार आकर्षित कर लिया ?" बाबा ने उत्तर दिया—इसमें कौन कष्ट ! यदि अपने में यथेष्ट आकर्षण की क्षमता रहे और उपादान का ज्ञान हो, तब तो फिर कठिनाई की बात क्या ? जितनी दूर पर्यन्त सूर्य–रश्मियों का विस्तार है, उतनी दूर तक जो जो कुछ भी हो, सब को खींच सकते हैं। वृहद विशाल स्थूल वस्तुएँ तक बहुत दूर-दूर से खींचकर उपस्थित की जा सकती हैं। इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं। समग्र जगत विधाता के जिस अपूर्व कौशल से चल रहा है, उसे तुमलोग जानते नहीं। इसीलिए तुम लोगों को यह सब कुछ आश्चर्य मालुम होता है। जब सीखोगे तब समझ सकोगे कि एक ब्रह्माण्ड की रचना तक कर सकना भी कोई असम्भव कार्य नहीं है।"

ऐसे ही आकर्षण बल से एक स्थान से थर्मामीटर को खींचते और पुनः लौटाते हुए उन्हें मैंने प्रत्यक्ष देखा है।

बहुमूल्य हीरे, नानारंग के मणि, मुक्ता, सुवर्ण, सन्देश, रसगुल्ला, कुनैन-गोलियां, वायोकेमिक, नाइट्रम फॉस, गव्य घृत, नारियल का तेल, कार्बोलिक एसिड, फिनाइल, अंगूर. बेदाना, कुंकुम, कपूंर, ग्राफाइट पत्थर, यूकयालिप्टस तेल, महाशंखवटी, च्यवनप्राश, मकरध्वज, नाना जातीय पुष्प, भाँति–भाँति के फल, यूडीकोलन, लव्हेण्डर, मधु, ग्रिमल्ट सिरप, आदि-आदि उन्होंने अनेक प्रकार के पदार्थ प्रत्यक्ष निर्माण कर दिये, यह मैंने अपनी

अपनी आँखों से देखा। रूई, फूल और पत्तों को पत्थर में रूपान्तरित करते हुए मैंने देखा। दृष्टि के द्वारा निमिष मात्र में पूरे उद्यान की सुगन्ध राशि को आकर्षित करके किसी एक ही वस्तु के भीतर डालते हुए मैंने स्वयं देखा। स्थूल वस्तु के उपादान के परमाणुओं के समूह जिस प्रकार पृथक्-पृथक् होकर चारो ओर छितरा जाते हैं और उस वस्तु का नाश हो जाता है, यह व्यापार मैंने प्रत्यक्ष देखा। सूर्य-रश्मियों से सचेतन जीवों तक की सृष्टि पूज्यपाद बाबा ने मेरी दृष्टि के सामने कर दिखायी। मक्खी, शतपदी, चमंगीदड़··· मेरे देखते-देखते उन्होंने बना डाले थे तुरन्त उड़ने भी लग गये। यहाँ तक कि रश्मियों द्वारा सूर्य से मनुष्य सृजन कर सकना भी सम्भव है जो कि आज न सही किन्तु भविष्य में वैसी चेष्टा करते-करते अवश्य ही बन पायेगा बाबा ने विश्वास दिलाया। मैंने यह भी देखा कि दीर्घ काल के बाद वस्तु के बिखरे हुए परमाणु पुनः एकत्रित करके आकर्षण बल से उसी वस्तु को पूर्व रूप दे दिया।

इस बात को उन्होंने कई बार समझाया भी था कि वास्तव में देखा जाय तो किसी भी वस्तु का विनाश नहीं होता। यदि कोई एक पुस्तक अग्नि में जलाकर राख बनाकर फेंक दी जाय और आगे चलकर किसी समय किसी अन्य स्थल में यदि ठीक वही पुस्तक ज्यों की त्यों फिर से उत्पन्न कर दी जाय एवं यदि कसौटी से यह प्रमाणित हो जाय कि वह खाली दृष्टिभ्रम नहीं है बल्कि स्थायी वस्तु है तब तो मानना ही पड़ेगा कि किसी भी वस्तु का ऐकान्तिक विनाश होता ही नहीं। यदि गंगा के घाट पर एक लोटा भर दूध जल में डाल दिया जाय और फिर दीर्घ समय के बाद अन्य किसी घाट पर गंगाजल के भीतर से विश्लेषणपूर्वक यदि ठीक वही दूध पुनः ज्यों का त्यों निकाल कर दिखा दिया जाय, तब तो यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि किसी भी वस्तु की स्वरूप-निवृत्ति कभी होती ही नहीं। इसीलिए कोई जीव

चाहे लोकलोकान्तर में चला जाय या यहाँ तक कि चाहे ब्रम्हलोक में भी चला जाय, क्षमताशाली विज्ञानवित् पुनः आकर्षण करके ले आ सकता है।

चित्त की भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ, काम आदि रिपु, ज्वर आदि रोग, ग्रीष्म आदि ऋतु, प्रेम, भक्ति प्रभृति भाव विज्ञान के आलोक में सभी कुछ स्पष्ट देखे जा सकते हैं।

सूर्य विज्ञान आयत्त कर लेने पर चन्द्रविज्ञान आदि यावतीय विज्ञान सुगमता पूर्वक सीखते बन जाते हैं। दायें बाएँ दोनों हाथों की दोनों विरोधी तड़ित-शक्तियों के संघर्ष से अथवा यहाँ तक कि नख की ज्योति के प्रभाव तक से सृष्टि सम्भव हो सकती है, आँखों की ज्योति के द्वारा, वायु के कम्पन द्वारा नक्षत्र के प्रकाश द्वारा यहाँ तक कि मानसिक स्पन्दन द्वारा भी सृष्टि प्रवाह धारण किया जा सकता है।

सौर विज्ञान सीख लेने पर यह सब कुछ विशेषरूप से पृथक्भाव से सीखने का प्रयोजन नहीं रह जाता।

काशी-धामस्थ 'विशुद्धकानन आश्रम' की विज्ञानशाला के अतिरिक्त और दो मन्दिर यहाँ पर उल्लेखनीय हैं। एक है शिव मन्दिर दूसरा है गोपाल मन्दिर। शिव मन्दिर में वृहद् गौरी पट्ट के ऊपर एक सौ आठ बाण-लिंग स्थापना की व्यवस्था है। गोपाल मन्दिर में श्री श्री गोपाल जी के चरण चिन्ह स्थापित हैं।

इस मन्दिर का एक विशेष इतिहास है। कई वर्ष पूर्व पुरीधाम के आश्रम में पूज्यपाद बाबा के रिक्त आसन पर प्रातःकाल में ये दो पदचिन्ह पड़े थे। उनके पड़ने के बाद तुरन्त ही जब देखा गया, तो उनसे बिजली की तरह ज्योति स्फुल्लिग निकल रहे थे। बाबा उस बीच क्रियागृह में अपने आसन पर बैठकर भक्त जयदेव के रचित "देहि पद पल्लवमुदारम्।" इस वचन का मनन कर रहे थे। तो कुछ ही क्षणों बाद नूपुरों का शब्द सुनने

में आया। बाबा तुरन्त नीचे आकर क्या देखते हैं कि उनके बिछौने पर छोटे-छोटे दो उज्ज्वल चरणों की रेखायें अंकित दिखाई पड़ रही हैं। श्री भगवान की यह लीला देखकर वे भाव और भक्ति में सराबोर हो गये। पेन्सिल द्वारा वे पद-रेखायें स्पष्ट चिन्हित करके वे चरणचिन्ह सुरक्षित रख लिये गये। ये चरणचिन्ह ७, कुण्डू रोड भवानीपुर कलकत्ते के कार्पोरेशन मजिस्ट्रेट, बाबा के परम भक्त श्रीयुत योगेशचन्द्र वसु महाशय के मकान में यत्नपूर्वक सुरक्षित रख दिये गये। वहाँ बहुत दिन तक रखे रहे। तत्पश्चात् काशीधाम में गोपालमन्दिर में उनको स्थापित करने की बात हुई।

———

त्रयोदश परिच्छेद

संक्षेप में पूज्यपाद बाबा की चरित-कथा का उपसंहार किया जा रहा है। बहुत कुछ कहने योग्य बातें अभी शेष रह गयीं। समय और सुयोग होने पर फिर कभी उन्हीं सब विषयों की विस्तृत विवेचना करने की इच्छा है।

बाबा के उपदेश एवं शिक्षा-प्रणाली का वर्णन करने का विचार है। उसी सिलेमिले में उनके दीक्षा तत्व तथा गुरु—करण सम्बन्धी सिद्धान्त पर प्रकाश डाला जायगा और साधन आदि सम्बन्धी जो भिन्न भिन्न मत हैं, उनका भी विवेचन किया जायेगा।

पूज्यपाद बाबा का जीवन अति विचित्र, शरीर अद्भुत एवं साधनादि सभी कुछ आश्चर्यमय! निर्मल चरित्र, कठोर संयम नियम दक्षता, साथ ही साथ असाधारण करुणा, स्वातंत्र्य प्रियता, तीक्ष्ण बुद्धि-शक्ति इत्यादि कितने कितने उनकी प्रकृति के वैशिष्टच। वे कहा करते थे—"सहसा किसी में भी विश्वास नहीं करना। विश्वास करोगे तो ठग जाना होगा। इस जगत का प्रत्येक परमाणु तुम्हारे प्रतिकूल है। तुम्हारे मित्र एक मात्र तुम्ही हो। तुम स्वयं अपने आप को भूलकर बाहरी मित्रों की ओर आकर्षित नहीं होना। तुमने स्वयं अपने को जगत के भीतर जकड़ रक्खा है। अब जगत में अपने बिखरे हुए उपादान को वापस समेट लो। बस, समेटते मात्र ही एक स्थान में तुम्हें अपना पूर्ण आदर्श घनीभूत रूप में प्रत्यक्ष दिखाई देगा। वही है तुम्हारी सबसे अधिक प्रियतम वस्तु।

जिस प्रियतम की खोज में तुमको इतने जन्मों तक भटकना पड़ा है, इस बार उसे पाकर शान्ति लाभ करो। सचमुच विश्वास बहुत दुर्लभ चीज है। जहाँ तहाँ विश्वास न कर बैठो। तुम्हें प्रत्येक पद पर सत्य और असत्य की परख करते चलना होगा, तभी विश्वास स्थिर होगा। कुपात्र में विश्वास करके धोखा खा जाने की अपेक्षा प्रथम सन्देह करके बाद में अटल विश्वास में स्थिति लाभ करना श्रेष्ठ है।"

"पुनः बाबा बोले—"तीव्र पुरुषकार द्वारा प्राक्तन कर्म खंडन किया जा सकता है। पुरुषकार का महत्व असीम है। योगाभ्यास ही है मुख्य पुरुषकार। सद्गुरु के लखाये हुए पथ पर चलते हुए उनकी दी हुई शक्ति से संपन्न बनकर के निरन्तर श्रद्धा और संयम समवेत योगकर्म का अनुष्ठान करने से चित्त शुद्धि होती है और ज्ञान का उदय होता है। ज्ञान के दृढ़ होने पर शुद्ध भक्ति का संचार होता है। भक्ति परिपक्व हो चुकने पर प्रेम उत्पन्न होता है। प्रेम की इस अवस्था में हृदय पिघल जाता है। जगदम्बा को पाने के लिए यह प्रेम ही एक मात्र साधन है।"

बाबा कहते थे कि योग अत्यन्त गूढ़ व्यापार है। साधारणतः लोग जिसका अनुष्ठान किया करते हैं, वह वस्तुतः योग नहीं है। जन समाज में बहुत ही थोड़े लोग ऐसे हैं जो कि योगतत्व को सचमुच जानते हों। वे स्वयं शास्त्र और सदाचार के एकान्त पक्षपाती थे। लोक-संग्रह के लिए वे सामाजिक व्यवस्था के समर्थक थे, तथापि शुष्क आचार मात्र से सन्तुष्ट रहने की नीति उन्हें पसंद न थी। बाबा का कहना था कि कर्म किये बिना खाली ग्रंथों के अध्ययन मात्र से करोड़ों जन्मों में भी ज्ञान का उदय होना संभव नहीं। शास्त्र तो केवल पथ दिखा देता है किन्तु पथ पर अग्रसर होना होता है यथार्थ कर्म द्वारा।

बाबा का स्वभाव अभिमान रहित, सरल और बालकवत् । इतना ज्ञान, ऐश्वर्य और साधन–संपत्ति सब कुछ होते हुए भी उनमें कभी क्षणमात्र के लिए भी अविनय देखने में नहीं आया । साधारणतः देखा जाता है कि परिचय का घना लगाव हो जाने पर भक्ति कम होने लगती है, किन्तु बाबा को जिन्होंने जितने ही अधिक घनिष्ठ भाव से चीन्हने का सौभाग्य पाया, वे उतने ही ज्यादा मुग्ध होते चले गये, मानो अनन्त वस्तु को देख रहे हैं और देखने की साध मिट ही नहीं रही, प्रतिक्षण नूतन नवीन भाव का उदय होता चला जा रहा है ।

तीव्र साधना के फलस्वरूप उनका शरीर परिवर्तित हो चुका है। श्वास-प्रश्वास के लिए उन्हें बाहरी वायु के साथ संबंध रखना नहीं पड़ता। उनकी सांस नाक के बाहर नहीं निकलती बाहर की वायु भी वे भीतर नहीं खींचते । सूक्ष्म और विशुद्ध भीतरी वायु के द्वारा ही उनके श्वास-प्रश्वास का निर्वाह अन्दर ही अन्दर हो जाता है । उनकी देह अत्यंत शुद्ध, इसी कारण भीतर की वायु कभी मलिन नहीं होती और इसी कारण से उनकी श्वास प्रश्वास में पद्मगंध बहती रहती थी ।

तीव्र क्रिया के समय सारा घर पद्म गन्ध से भर जाता । सुषुम्ना के भीतर वायु को चला सकने से क्रमशः देह वायु और चित्त विशुद्ध होकर पद्म गन्ध का शरीर में विकास हो जाता है । सुनने में आया कि बुद्धदेव और चैतन्य महाप्रभु के शरीर से भी पद्मगन्ध निकलती थी ।[1] बाह्य वायु के साथ मिलकर यही गन्ध परिवर्तित होकर गुलाब, खस, चम्पा, यूथिका प्रभृति विचित्र सुगन्धों में परिणत हो जाती है । जो धोती, कुर्ता आदि बाबा बो-

---

१—हठ योगीगण घटावस्था में ही देह से सद्गन्ध का आविर्भाव स्वीकार किया है । वे कहते हैं, यह बिन्दु शुद्धि का लक्षण है ।

तीन घंटे पहने रहते थे, वे सभी पद्म-गन्ध से इतने अधिक सुगन्धित हो जाते थे कि दो-तीन दिन तक सम्पूर्ण घर सुगन्ध से भरा रहता था। ग्रीष्म की गर्मी में उनके शरीर का टपकता पसीना एक शीशी में भरकर मैंने देखा था। उत्तम सुगन्धित जल भी उसके आगे तुच्छ प्रतीत होता था। बाबा की नाभि पर हाथ रखकर उसपर पानी उड़ेल देने से वह जल पद्म की सुगन्ध से सुवासित हो उठता था। उनके देह में स्वभावत: ही अर्थात् विना स्फुरण के ही इतनी अधिक तड़ित् शक्ति क्रिया तत्पर रहती थी कि बर्रें, भ्रमर, मच्छर प्रभृति जीव बाबा के शरीर में दंशन करते तो तत्क्षण जल कर मर जाते थे। यह मैंने स्वयं अपनी आँखों से कई बार देखा है। उनकी आँखों का तेज इतना अधिक तीव्र था कि वह कहा नहीं जा सकता। एक बार एक साधु उनकी परीक्षा करने के उद्देश्य से एक ज्योतिर्मय कठोर शिवलिंग लेकर उनके पास आया था। उन्होंने उस शिवलिंग की ओर ताक कर देखा मात्र कि तत्काल वह चूर्ण विचूर्ण हो गया था और एक दिन एक व्यक्ति का तीव्र रोग आकर्षण करके एक बाणलिंग के भीतर भरते ही तुरन्त बाण-लिंग फट गया था।

पूज्यपाद बाबा का भोजन केवल एक वेला, वह भी अति अल्प परिमाण में होता था। समय बीत जाने पर फिर कुछ भी नहीं खाते थे निद्रा तो एक प्रकार से नहीं ही के बराबर थी। प्राय: समस्त रात भर एक आसन पर बैठे रहते थे।

उनकी सिद्धियों की कोई गिनती नहीं। एक दिन मुझे वे महिमा सिद्धि की एक प्रणाली समझा रहे थे। उस समय उन्होंने अपनी तर्जनी अंगुलि को इतनी बड़ी और प्रसारित बना दिया था कि उसे देखकर पहि-चानना कठिन था। उनकी अणिमादि सिद्धियाँ भी अनेक ने प्रत्यक्ष देखी हैं। प्राप्ति, आकाश-गमन, अन्तर्धान कायव्यूह प्रभृति समय-समय पर किसी-किसी के देखने में आये हैं।

किन्तु ये सब सिद्धियाँ उनके लिए एकबारगी तुच्छ और नगण्य। जिस महाधन से धनी होकर उन्होंने अतुल योगैश्वर्य की भी तृणवत् उपेक्षा की, वही भगवत्प्रेम रूपी अमूल्य चिन्तामणि हम सब लोग उनके पास से प्राप्त कर लेने में कदापि न चूकें। उनके आशीर्वाद से और उनके संचारित बल से बलवान होकर हम लोग उनके पीछे-पीछे अनुगमन करने में समर्थ हों!! वे हम सबको असत्य से सत्य की ओर, अज्ञान से ज्ञानालोक की ओर, मृत्यु राज्य से अमरधाम की ओर ले चलें यही उनके श्री चरणों में हम सबकी विनीत और भक्तिपूर्ण प्रार्थना है!!!

———